आलबेयर कामू
अजनबी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

अजनबी

अजनबी

आल्बेयर कामू

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली • पटना

फ्रेंच उपन्यास L, Etranger, १९४६, का हिन्दी रूपान्तर

मूल प्रकाशक : गेलीमार, पेरिस

अनुवादक : राजेन्द्र यादव

मूल्य : रु० ८.००

द्वितीय संस्करण : १९७७

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-११०००२

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भारत सरकार द्वारा अपेक्षाकृत सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराये गये
कागज पर मुद्रित

पहला भाग

एक

आज माँ की मृत्यु हो गयी। हो सकता है, कल हुई हो—ठीक-ठीक नहीं बता सकता। 'आश्रम' से आये तार में बस इतना ही लिखा है, "तुम्हारी माँ का स्वर्गवास हो गया। अन्त्येष्टि कल है। हार्दिक संवेदना।" इस मज़मून में तो काफी गुंजाइश है। हो सकता है, मृत्यु कल ही हुई हो।

मारेंगो का वृद्धाश्रम अलजीयर्स नगर से कोई पचासेक मील दूर है। दो बजे की बस लूं, तो दिन छिपे से काफी पहले पहुँच लूंगा। शव के सिर-हाने 'रतजगा' की प्रथा निभाकर कल शाम तक आसानी से लौटा भी जा सकेगा। अपने साहब से दो दिन की छुट्टी माँग ली है। ऐसे मौके पर वे मना भी कैसे करते ? फिर भी जाने क्यों, मुझे लगा जैसे वे कुछ झुंझला उठे। मैं बिना सोचे ही बोल पड़ा—"माफ कीजिए साहब, इसमें देखिए, मेरा तो कोई क़सूर नहीं…"

बाद में खयाल आया कि यह सब मुझे नहीं कहना था। मुझे माफी माँगने की क्या ज़रूरत थी ? यह तो खुद उन्हें ही चाहिए था कि हमदर्दी जताते या ऐसी ही कोई औपचारिक बात कहते। परसों गमी के कपड़ों में देखकर, शायद ऐसा कुछ कहें। फिलहाल तो लगता ही नहीं, कि माँ नहीं रहीं। अन्त्येष्टि से पक्का हो जायेगा—कहिए, बाकायदा सरकारी मुहर लग जायेगी।

मैंने दो बजे की बस ली। चिलचिलाती गर्म दोपहर का समय था। रोज़ की तरह आज भी मैंने सेलेस्ते के रेस्त्राँ में खाना खाया था। आज सब कोई बेहद मेहरबान थे। सेलेस्ते बोला, "माँ की बराबरी कोई नहीं कर सकता।" जब मैं बाहर आया तो सब के सब मुझे दरवाज़े तक छोड़ने आये। आते-अते तो एकदम हड़बड़ी-सी मच गयी। ऐन मौके पर मुझे काली टाई और बाँह पर बाँधने का काला मुहर्रमी पट्टा लाने के लिए

इमानुएल के यहाँ भागना पड़ा। उसके चाचा भी कुछ ही महीने पहले गुज़रे थे, सो उसके पास यह सब था।

बस दौड़ते-दौड़ते पकड़ी। सड़क और आसमान का दौड़ता चौंधा, पैंट्रोल का बदबूदार धुआँ और रास्ते के झटके और फिर ऊपर से, वह भागदौड़—शायद इसीलिए मैं बैठते ही ऊँघने लगा। बहरहाल, ज़्यादातर रास्ता सोते-सोते कटा। आँखें खुलीं तो देखा, एक सिपाही पर लदा हूँ। उसने बत्तीसी चमकाकर पूछा, क्या मैं दूर से बस में बैठा आ रहा हूँ? बात करने को मेरा मन नहीं था। इसलिए सिर्फ़ सिर हिलाकर बात खत्म कर दी।

गाँव से आश्रम की दूरी कोई मीलभर से ज़्यादा होगी। पैदल ही रास्ता तय किया। सीधे माँ को देखना चाहा तो चौकीदार बोला कि पहले वार्डन से मिलना होगा। वार्डन व्यस्त थे इसलिए थोड़ी राह देखनी पड़ी। जितनी देर मैं बैठा राह देखता रहा, चौकीदार मुझसे गप्पें लड़ाता रहा। फिर मुझे दफ्तर ले गया। वार्डन सफ़ेद बालोंवाला ठिंगना-सा आदमी था। कोट के काज में 'लीजन आफ ऑनर' का प्रतीक, छोटा-सा गुलाब, लगाये हुए। (यह पदक १८०२ में नेपोलियन प्रथम ने फौजी या सामान्य जीवन में की गयी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के बदले चलाया था) वार्डन अपनी नीली-नीली पनीली आँखों से मुझे देर तक देखता रहा। फिर हमने हाथ मिलाये। मेरे हाथ को वह इतनी देर हाथ में लिये रहा कि मुझे बेचैनी महसूस होने लगी। इसके बाद मेज़ पर रखे रजिस्टर को उलट-पलटकर बोला:

"मदाम म्योरसोलं तीन साल पहले इस आश्रम में आयी थीं। जीविका का उनका अपना कोई साधन नहीं था इसलिए उनका सारा भार आपके ही ऊपर था।"

मुझे ऐसा लगने लगा मानो वह मुझे किसी बात के लिए अपराधी ठहरा रहा हो; इसलिए मैंने सफाई देनी शुरू की तो उसने बीच में ही टोक दिया, "बेटा तुम अपनी सफाई क्यों दे रहे हो? मैंने तो खुद उनका सारा पिछला रिकार्ड देखा है। तुम तो खुद इस स्थिति में नहीं थे कि ठीक से, माँ के भरण-पोषण का बोझ उठा सको। अपनी देख-भाल के लिए उन्हें हर वक्त एक आदमी की ज़रूरत थी। और मुझसे छिपा तो नहीं है कि

तुम्हारी-जैसी नौकरी करनेवाले लड़के को तनखाह ही कितनी मिलती है ? वहरहाल, आश्रम में वे काफी खुश ही थीं।"

मैंने कहा, "जी हाँ साहव, मेरा भी यही विश्वास है।"

इस पर वह बोला "अपनी उम्र के कई लोगों से उनकी अच्छी पटती थी। लोग अपनी पीढ़ीवालों में ही ज्यादा खुश रहते हैं। तुम तो खुद अभी काफी छोटे हो, उनके साथी की कमी थोड़े ही पूरी कर सकते थे।"

वात सही थी। जिन दिनों हम लोग साथ-साथ रहते थे, माँ मुझे बस, देखती रहती थीं। वातचीत हम लोगों में शायद ही कभी हुई हो। आश्रम के पहले कुछ हफ्ते तो वे काफी रोयीं-धोयीं। लेकिन यह सब रोना-धोना मन न लगने के कारण था। दो-एक महीने वाद तो यह हालत हो गयी कि उनसे आश्रम छोड़ने के लिए कहो तो रोने लगें। यह भी उनको भयानक सजा देना था। यही कारण था कि पिछले साल उनसे वहुत ही कम मैं मिलने गया। दूसरे वहाँ जाने का अर्थ यह भी था कि अपना एक रविवार विगाड़ो...। वस तक जाने की तवालत उठाओ, टिकट खरीदो, सफर में दोनों तरफ से दो-दो घण्टे वैठे-वैठे धूल फाँको—आने और जाने में पक्के दो-दो घण्टे—खैर, इस सारे सिरदर्द का तो ज़िक्र ही छोड़िए...

मैंने ध्यान ही नहीं दिया कि वार्डन क्या बोले चला जा रहा है। आखिर में वह बोला, "अच्छा तो अव, मेरा खयाल है तुम माँ के दर्शन करोगे ?"

मैंने कुछ जवाव नहीं दिया और उठ खड़ा हुआ। आगे-आगे वह दरवाज़े की तरफ बढ़ा। ज़ीना उतरते हुए उसने समझाया, "तुम्हारी माँ का शव मुर्दाघर में रखवा दिया है—जिससे दूसरे बूढ़ों का मन खराव न हो। मेरा मंशा समझे न ? यहाँ तो हर वक्त कोई न कोई मरता ही रहता है। हर बार दो-तीन दिन इन लोगों की हालत खराब हो जाती है। यानी लामुहाला, हमारे नौकर-चाकरों को फालतू काम और फिजूल परेशानी..."

हमने एक खुली जगह पार की। यहाँ छोटे-छोटे दलों में वैठे वूढ़े आपस में बातें कर रहे थे। हमें आता देखकर चुप हो गये। हम आगे निकले तो पीछे से फिर बातचीत शुरू हो गयी। उनके स्वर से मुझे पिंजड़े

में बन्द पहाड़ी तोतों की याद आ गयी—इन लोगों का स्वर अलबत्ता उतना तीखा नहीं था। एक छोटे, और कम ऊंचे से मकान के दरवाज़े के सामने आकर वार्डन खड़ा हो गया :

"तो मोशिए म्योरसोल, मैं यहीं से विदा लूँगा। किसी काम के लिए ज़रूरत हो तो दफ्तर में हूँ ही। अन्त्येष्टि कल सुबह करने का विचार है। तब तक तुम अपनी माँ के ताबूत के पास रतजगा भी कर लोगे। तुम्हारा खुद का भी तो मन होगा ही। हाँ, एक बात और, तुम्हारी माँ के साथियों ने बताया है—उनकी कामना थी कि उन्हें चर्च के नियमों के अनुसार ही दफ़न किया जाये। यों मैंने इसकी सारी व्यवस्था कर दी है, लेकिन सोचा तुम्हें भी खबर दे दूँ···"

मैंने कहा, "शुक्रिया।" जहाँ तक मुझे अपनी माँ का पता है, वे खुल्लम-खुल्ला तो नास्तिक नहीं थीं, लेकिन इस धर्म-कर्म की तरफ उन्होंने अपने जीवन में कभी ध्यान नहीं दिया।

मैंने मुर्दाघर में कदम रखा। कमरा खूब रोशन और ऐसा साफ़-स्वच्छ था कि कहीं एक दाग नज़र नहीं आता था। दीवारें सफेदी से पुती थीं। एक काफी बड़ा रोशनदान था। फर्नीचर के नाम कुछ कुर्सियाँ और तिपाइयाँ पड़ी थीं। दो तिपाइयाँ कमरे के बीचोबीच खुली रखी थीं और उन पर ताबूत टिका था। ढक्कन ऊपर लगा था, लेकिन पेच बस ज़रा-ज़रा घुमाकर छोड़ दिये गये थे। निकल की पॉलिशवाले पेचों के सिरे, गहरे अखरोटी रंग के तख्ते के ऊपर निकले खड़े थे। एक अरब औरत—मुझे लगा नर्स—अर्थी के पास बैठी थी। वह नीला शमीज़ पहने थी। बालों पर शोख रंग का रूमाल बँधा था।

पीछे-पीछे ही चौकीदार भी आ पहुँचा। उसकी साँस फूली थी; ज़रूर दौड़ता-दौड़ता आया होगा "अभी तो हमने ढक्कन यों ही रख दिया है। वार्डन साहब का हुकुम था कि आप आयें तो माँ के दर्शन करने के लिए पेच खोल दूँ।"

वह ताबूत की ओर बढ़ा तो मैंने उसे रोक दिया—नहीं, नहीं, तकलीफ करने की ज़रूरत नहीं।

"ऐं ऽ ऽ ? क्या कहा ?" अथाह आश्चर्य से उसके मुँह से निकला—

"आप नहीं चाहते कि मैं..."

"नहीं..." मैंने जवाब दिया।

पेचकस तो उसने वापस जेब में रख लिया, लेकिन उसकी फटी-फटी आँखें मुझ पर टिकी रहीं। तब मुझे लगा कि यों मना नहीं करना चाहिए था। इस खयाल से मैं ज़रा-सा सकपकाया। कुछ पल मुझे देखते रहकर उसने पूछा, "क्यों ?" स्वर में भर्त्सना नहीं, केवल जिज्ञासा थी।

"भई, इस क्यों का जवाब तो बड़ा मुश्किल है।" मैंने कहा।

वह अपनी पकी-पकी मूँछों में बल देता रहा। फिर बिना मुझसे आँखें मिलाये, मुलायम स्वर में बोला, "अच्छा, अब मैं समझा।"

आदमी देखने में अच्छा लगता था—नीली-नीली आँखें और फूले लाल गाल। मेरे लिए उसने ताबूत के पास ही एक कुर्सी खींच दी और खुद ठीक उसके पीछे बैठ गया। नर्स उठकर दरवाज़े की तरफ़ जाने लगी। चौकीदार के पास से गुज़री तो वह मेरे कान में बुदबुदाकर बोला, "इस बिचारी को फोड़ा हो गया है।"

अब मैंने ज़रा और गौर से उसे देखा। आँखों के ठीक नीचे, सिर के चारों ओर पट्टी लपेटी हुई थी। नाक की उठान के आसपास का हिस्सा दबकर चपटा हो गया था और चेहरे पर उस सफेद आड़ी पट्टी के सिवा कुछ नहीं दीखता था।

उसके जाते ही चौकीदार भी उठ खड़ा हुआ, "अब आप यहाँ अकेले बैठें।"

पता नहीं, जवाब में मैंने जाने क्या इशारा किया कि बाहर जाने की बजाय वह मेरी कुर्सी के पीछे आकर खड़ा हो गया। इस कुलबुलाहट से मुझे बेचैनी होने लगी कि कोई मेरी पीठ पर जमा खड़ा है। दिन ढल रहा था और सारे कमरे में सुखद-सुकुमार धूप का ज्वार उमड़ पड़ा था। रोशन-दान के शीशे पर दो ततैये भनन-भनन कर रहे थे। मैं ऐसा उनींदा हो रहा था कि आँखें ही नहीं खुल रही थीं। बिना पीछे मुड़े ही मैंने चौकीदार से पूछा, "इस आश्रम में तुम्हें कितने दिन हो गये ?" 'पाँच साल' खट् से ऐसा बँधा-बँधाया उत्तर आया कि लगा मानो वह मेरे सवाल की राह ही देख रहा हो।

अब तो बस, उसकी मशीन ही चालू हो गयी। दस साल पहले अगर कोई उसे बताता कि तुम्हारी ज़िन्दगी मारेंगो के आश्रम में चौकीदारी करते बीतेगी तो वह हरगिज़-हरगिज़ विश्वास न करता। बताया, उम्र चौसठ साल है और रहनेवाला पैरिस का है।

जैसे ही उसने यह बताया तो मैं बिना सोचे-समझे बोल उठा, "अच्छा, तो तुम यहाँ के रहनेवाले नहीं हो ?"

तब याद आया, वॉर्डन के पास ले जाने से पहले भी उसने माँ के बारे में कुछ बताया था। वह बोला, "इस प्रदेश की, खासकर इन निचले मैदानों की गर्मी ऐसी है कि माँ को जल्दी से जल्दी कब्र देना अच्छा है। पैरिस की बात और है। वहाँ तो तीन दिन; कभी-कभी तो चार-चार दिन शव को रख लेते हैं और कुछ नहीं बिगड़ता।" फिर वह बताता रहा कि अपनी ज़िन्दगी के सबसे अच्छे दिन उसने पैरिस में बिताये हैं, अब तो वे दिन भुलाये भी नहीं भूलते। कहने लगा, "और यहाँ तो समझिए, सारे काम आँधी की तरह होते हैं। अभी किसी के मरने की खबर सुनकर भी नहीं चुके कि लीजिए साहब, दफनाने के लिए खदेड़ दिये गये।"

"बस, बस," बीच में ही उसकी पत्नी बोल पड़ी, "इन बिचारों को ये सब बताने की तुम्हें क्या ज़रूरत ?" झेंपकर बुड्ढा माफी माँगने लगा। मैंने कहा, "नहीं, नहीं। कोई बात नहीं।" मुझे सचमुच उसकी कही बातें बड़ी दिलचस्प लग रही थीं। मैंने इधर पहले ध्यान ही नहीं दिया था।

अब उसने फिर बताना शुरू कर दिया कि आश्रम में वह भी साधारण आश्रमवासी के रूप में ही आया था। चूँकि कद-काठी से अभी भी भला-चंगा था, सो जब चौकीदारी की जगह खाली हुई तो अर्जी दे दी।

मैंने कहा, "तो क्या हुआ ? हो तो तुम अब भी दूसरे आश्रमवासियों की तरह ही। मगर वह इस बात को मानने को तैयार नहीं था। अपने को वह कुछ 'अफसरनुमा' समझता था। खुद से कम उम्रवाले आश्रमवासियों की बात आती तो वह उनका ज़िक्र "वे लोग" या कभी-कभार "उन बूढ़ों के लिए" कहकर करता। उसकी इस आदत से पहले-पहल मैं चौंका भी था। खैर, अब उसका दृष्टिकोण मेरी समझ में आ गया। चौकीदार के रूप में ही सही, उसकी अपनी एक हैसियत और बाकी लोगों

पर कुछ धाक तो थी ही।

तभी नर्स लौट आयी। रात कुछ ऐसी तेज़ी से हुई कि लगा, रोशन-दान के पार का आसमान अचानक काला पड़ गया। चौकीदार ने बत्तियाँ जला दीं। उनके चौंधे ने ज़रा देर के लिए मुझे एकदम अन्धा-सा बना दिया।

उसने सलाह दी कि मैं आश्रम के लंगर में चलकर भोजन कर लूँ। लेकिन मुझे भूख नहीं थी। इस पर उसने कहा, अगर मैं कहूँ तो वह मेरे लिए एक गिलास कैफ-अॅ-लाय (एक विशेष कॉफी) ले आये। कैफ-अॅ-लाय मेरा प्रिय पेय है सो कह दिया, "शुक्रिया।" कुछ मिनटों में वह एक ट्रे उठा लाया। कॉफी पीने के बाद मुझे सिगरेट की तलब लगी। लेकिन मन में धर्मसंकट था कि इस मौके पर, माँ की उपस्थिति में सिगरेट पियूँ या न पियूँ। जब एक बार फिर सोचा तो कोई खास हर्ज नहीं लगा। अतः एक सिगरेट मैंने चौकीदार को भी पेश की। हम दोनों सिगरेट पीते रहे।

थोड़ी देर बाद उसने फिर बातें करनी शुरू कर दीं।

"बात यह है कि शव के पास आपके साथ-साथ रतजगे के लिए आपकी माँ के और साथी-संगी भी आनेवाले हैं। जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो हम लोग हमेशा यहाँ रतजगा करते हैं। अच्छा तो मैं जाकर, कुछ और कुर्सियाँ और बिना-दूध की कॉफी का बर्तन ले आऊँ।"

सफेद-सफेद दीवारों पर पड़ती रोशनी की चमक मेरी आँखों में चुभ रही थी। मैंने पूछा, "इनमें से एक बत्ती बुझा दूँ?" उसने बताया—"यह नहीं होगा। बत्तियाँ सब इस ढंग से लगायी गयी हैं कि या तो सारी की सारी जलती हैं या सब बुझ जाती हैं।" इसके बाद मैंने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया। वह बाहर जाकर कुर्सियाँ ले आया। उन्हें ताबूत के चारों ओर लगाकर उसने एक कुर्सी पर कॉफी का पॉट और दस-बारह प्याले रख दिये। इसके बाद, ठीक मेरे सामने माँ के पास वह बैठ गया। नर्स कमरे के दूसरे कोने में मेरी ओर पीठ किये बैठी थी। कर क्या रही है यह तो नहीं दिखायी देता था, लेकिन उसकी बाँहों के हिलने के ढंग से अन्दाज़ लगा कि सलाइयों से कुछ बुन रही है। मुझे बड़ा आराम मिल रहा था। कॉफी ने तन-मन में सुखद ऊष्मा भर दी थी। खुले दरवाज़े से फूलों की भीनी-भीनी

गन्ध और रात की ठण्डी-ठण्डी हवा के झोंके आ रहे थे। शायद कुछ पल के लिए मेरी आँखें भी झपक गयीं।

अजब-सी सरसराहट की आवाज़ कानों में पड़ी तो जागा। बन्द ही बन्द आँखों में मुझे लगा मानो रोशनी पहले से भी ज्यादा तीखी हो गयी है; किसी परछाईं का कहीं नामो-निशान नहीं है और हर चीज़ का एक-एक कोण और कटाव निर्ममता से आँखों में नक्श हुआ जा रहा है। माँ के संगी-साथी बूढ़े-बुढ़ियाँ आने लगे थे। उस मनहूस चौंधामारती सफेदी से तिरछे होकर गुज़रते हुए उन्हें मैंने गिना—एक···दो···तीन···दस। उन लोगों के बैठने पर एक कुर्सी तक के चरमराने का स्वर नहीं सुनायी दिया। उस दिन, उन लोगों को मैंने जितना साफ-साफ देखा, शायद ज़िन्दगी में कभी किसी चीज को उतना साफ नहीं देखा—उनके चेहरे-मुहरे, कपड़े-लत्ते—एक तिनका भी मेरी आँखों से नहीं छूटा। और फिर भी मज़ा यह कि मुझे उनकी एक भी बात, एक भी आवाज़ नहीं सुनायी देती थी। मैं विश्वास ही नहीं कर पा रहा था कि वे सचमुच हैं भी या नहीं।

लगभग सभी महिलाओं ने सामने एप्रन बाँध रखे थे। सुतलियाँ ऐसे कसकर कमर में बँधी थीं कि उनके बड़े-बड़े पेट और भी बाहर निकल आये थे। कितने बड़े-बड़े होते हैं इन औरतों के पेट—इस तरफ कभी मैंने गौर ही नहीं किया था। हाँ तो, अधिकांशत: पुरुष अफीमचियों और व्यभिचारियों जैसे सूखे-मरियल थे और हाथों में छड़ियाँ लिये थे। उनके चेहरे की सबसे खास बात मुझे यह लगी कि उनकी आँखें दिखायी ही नहीं देती थीं—झुर्रियों के झुरमुट में बस एक निस्तेज और निर्जीव रोशनी-भर नज़र आती थी।

बैठ चुकने के बाद, उन लोगों ने मुझे देखना शुरू कर दिया। कुत्ते की दुम की तरह उनकी गरदनें भद्दी तरह थर-थर करती थीं और अपने दन्त-हीन मसूड़ों से वे बैठे-बैठे होंठ निचोड़े जा रहे थे। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि मुझे पहली बार देखकर ये लोग मेरे स्वागत में कुछ कहना चाहते हैं या उनकी यह हरकत सिर्फ बुढ़ापे की कमजोरी के कारण है। मैं तो यह भी मान लेने को तैयार था कि वे लोग अपने-अपने ढंग से मेरा स्वागत ही

कर रहे हैं, मगर चौकीदार को घेरकर उनका यों बैठना, संजीदगी से मुझे घूरे जाना, और सिर मटकाना देखकर मन में बड़ा अजब-अजब लगता था। पल-भर को दिमाग में एक बेतुकी-सी बात आयी—मानो ये सबके सब मेरा इन्साफ करने बैठे हैं।

कुछ मिनट बाद, औरतों में से एक ने रोना शुरू कर दिया। वह दूसरी लाइन में थी और उसके आगे एक और औरत पड़ती थी, इसलिए मुझे उसका चेहरा नहीं दिखायी दिया। ठीक समय पर उसके मुँह से रुक-रुककर घुटी-घुटी हल्की-सी सिसकी निकलती थी। लगता था जैसे ये सिसकियाँ कभी बन्द ही नहीं होंगी। दूसरों को जैसे इस बात की कोई फिक्र ही नहीं थी। सब के सब अपनी-अपनी कुर्सियों में दबे-सिमटे गुमसुम बैठे थे और ताबूत, या अपनी-अपनी छड़ियों या जो भी चीज़ सामने पड़ती थी—बस, उसे ही एकटक देखे जा रहे थे। औरत का रोना जारी रहा। मुझे बड़ा आश्चर्य भी हुआ, इस औरत को तो मैं जानता तक नहीं। मन में आया कि चुप करा दूँ, लेकिन उससे बोलने की हिम्मत नहीं पड़ी। कुछ देर बाद चौकीदार ने उसके ऊपर झुककर कान में कुछ फुसफुस किया। जवाब में औरत ने केवल सिर झटका और मुँह ही मुँह में कुछ बोली—जो सुनायी नहीं दिया। लेकिन रोना अपनी उसी गति से चलता रहा।

चौकीदार उठकर अपनी कुर्सी को मेरे बराबर सरका लाया। पहले तो वह चुपचाप बैठा रहा फिर बिना मेरी ओर देखे बताने लगा, "इसका आपकी माँ से बड़ा प्रेम था। कहती है, दुनिया में अकेली आपकी माँ ही इसकी सगी थी। अब कोई भी नहीं रहा।"

मैं क्या कहता? इसके बाद काफी देर सन्नाटा छाया रहा। अब उस औरत का रोना-सुबकना काफी कम हो गया था। कुछ देर नाक छिनकने और सूँ-सूँ करने के बाद अब वह भी शान्त हो गयी।

नींद तो नहीं, हाँ, थकान जबर्दस्त महसूस हो रही थी। टाँगें बुरी तरह दुख रही थीं। मुझे कुछ ऐसी अनुभूति हो रही थी मानो इन लोगों की चुप्पी मुझे पीसे डाल रही है। एकदम सन्नाटा था और अगर कुछ सुनायी देती थी तो काफी देर रुक-रुककर आती एक अजीब-सी आवाज़। पहले तो मैं चकराया कि यह कैसी आवाज़ है, लेकिन ध्यान से सुना तो समझ में

आ गया। बैठे-बैठे बुड्ढे अपने थुल-थुल गाल चूसते थे और इससे वे चुसुर-चुसुर की अजब-अजब आवाज़ें होती थीं जिनसे मैं पहले-पहल डर गया था। सब के सब अपने-आप में ही ऐसे डूबे थे कि शायद उन्हें इस बात का ध्यान तक नहीं था कि वे ऐसा कुछ कर भी रहे हैं। मुझे तो लगा कि बीचो-बीच रखे शव का भी उनके लिए कोई अर्थ नहीं है, लेकिन अब सोचता हूँ, वह मेरा भ्रम था।

चौकीदार ने एक-एक करके हम सबको कॉफी दी तो हमने कॉफी पी। इसके बाद क्या-क्या हुआ मुझे याद नहीं आता। जैसे-तैसे रात गुज़र गयी। बस, एक ही बात का खयाल है। बीच में आँखें खुलीं तो देखा एक को छोड़कर बाकी सारे के सारे बुड्ढे अपनी कुर्सियों में गुड़ी-मुड़ी होकर सो गये हैं। वह अकेला बुड्ढा अपनी छड़ी को दोनों हाथों में जकड़े, उन पर अपनी ठुड्डी टिकाये मुझे लगातार यों घूरे जा रहा था मानो मेरे जागने की ही राह देख रहा हो। पर फिर मुझे फौरन ही दुबारा झपकी आ गयी। कुछ देर बाद एक बार फिर नींद टूटी। टाँगों का दर्द बढ़कर अब पाँव-सोने जैसी चुनचुनाहट पैदा करने लगा था।

ऊपर रोशनदान के पार पौ-फटे का उजाला फैलने लगा। दो-एक मिनट बाद एक और बूढ़े की भी आँखें खुल गयीं और उसने 'खों-खों' करके बार-बार खाँसना शुरू कर दिया। चारखाने के बड़े-से रूमाल में वह खँखार थूक लेता था। और उसके इस तरह हर बार थूकने के साथ ही लगता मानो इसने अब कै की। इस खाँसी-थूक से औरों की भी नींद खुल गयी। चौकीदार ने आकर सूचना दी कि चलने का समय हो गया। रातभर के कष्टप्रद रतजगे के बाद सबके चेहरे भूरी राख-से बुझे-बुझे हो गये थे। यों तो हमने आपस में एक भी बात नहीं की थी, लेकिन जब एक-एक करके सबने मुझसे हाथ मिलाये तो एक बात से बड़ा आश्चर्य हुआ। लगा, मानो सारी रात साथ बैठकर काटने की इस क्रिया ने हम लोगों के बीच एक निकटता और आत्मीयता का भाव जगा दिया है।

मेरा तो बुरा हाल था। चौकीदार मुझे अपने कमरे में ले आया। यहाँ मैंने हाथ-मुँह धोकर ज़रा कपड़े-वपड़े ठीक-ठाक किये, उसकी दी हुई थोड़ी-सी सफेद कॉफी पीकर लगा, जान में जान आयी। बाहर आया

तो देखा कि सूरज चढ़ आया है और मारेंगो और समुद्र के बीच की पहाड़ियों के ऊपर आकाश में सिंदूर बिखरा है। भोर की ठण्डी-ठण्डी खारी गन्धवाली सुहानी हवा से लगता था कि आज का दिन काफी अच्छा होगा। गाँव और खेतों की ओर आये तो मुझे युगों हो गये। सोचने लगा कि माँ का झमेला न होता तो इस समय यहाँ घूमने में कैसा मज़ा आता। इस विचार के साथ ही परिस्थिति का ज्ञान हो आया।

खैर, इस समय तो मैं खुले चौक में, एक सामान्य पेड़ के नीचे खड़ा-खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था। ठण्डी-ठण्डी धरती से निकलती सोंधी-सोंधी गन्ध को लम्बी-लम्बी साँसों से पीते हुए लगा कि अब उनींदेपन का नामो-निशान नहीं है। अब, मैंने दफ्तर के लोगों के बारे में सोचना शुरू कर दिया। इस वक्त तो लोग सो-सोकर उठे होंगे और काम पर जाने की तैयारियाँ कर रहे होंगे। मेरे लिए यह क्षण दिन का सबसे बुरा समय होता है। दस-बारह मिनट मैं यों ही सोचता रहा कि बिल्डिंग के भीतर बजती घण्टी से ध्यान टूटा। खिड़कियों से लोग चलते-फिरते दिखायी दिये। लेकिन इसके तुरन्त बाद ही फिर शान्ति छा गयी। सूरज कुछ और चढ़ आया था और मेरे तलुए गरम होने लगे थे। चौकीदार खुला चौक पार करके पास आया और बोला, "वार्डन साहब आपसे मिलना चाहते हैं।" मैं दफ्तर में गया तो वार्डन ने कुछ और कागज़ों पर दस्तखत लिये। देखा, अब उसके कपड़े काले रंग के थे। पतलून का कपड़ा महीन धारियों का था। टेलीफोन का चोंगा हाथ में लिये हुए उसने मेरी तरफ देखा, "अभी-अभी अण्डरटेकर (संस्कार-व्यवस्थापक) के लोग आ गये हैं। ताबूत बन्द करने के लिए मुर्दाघर जानेवाले हैं—तुम कहो तो उन्हें ज़रा देर रोक दूँ? माँ के अन्तिम दर्शन तो करोगे न?"

"जी नहीं।"

आवाज़ धीमी करके उसने चोंगे में कुछ कहा—"तब ठीक है फिगिये, तुम आदमियों को सीधे वहाँ भेज दो।"

फिर उसने बताया कि अन्त्येष्टि के समय वह भी उसमें रहेगा। मैंने धन्यवाद दिया। डैस्क के सामने बैठे-बैठे उसने अपनी टाँग पर टाँग रखी और पीठ पीछे टिका ली। कहा, ड्यूटी वाली नर्स के अलावा सोग मनाने

वाले मैं और वह केवल दो ही जने होंगे। यह यहाँ का नियम है कि आश्रमवासी अन्त्येष्टि में शामिल न हों। हाँ, अगर उनमें से कुछ चाहें तो रत-जगे के लिए पहली रात अर्थी के पास बैठ सकते हैं। इसमें कोई बात नहीं।

उसने समझाया, "यह इन्हीं लोगों की भलाई के लिए है—मानसिक कष्ट से बच जाते हैं। लेकिन इस बार मैंने तुम्हारी माँ के एक पुराने साथी को साथ चलने की अनुमति दे दी है। नाम है उनका तोमस पीरे", वार्डन के चेहरे पर हल्की मुस्कराहट आ गयी, "यह प्रसंग भी एक तरह से बड़ा करुणाजनक है। तुम्हारी माँ और ये साहब बड़े अभिन्न जैसे हो गये थे। अपनी इस नयी 'मंगेतर' के लिए दूसरे बूढ़े लोग पीरे को चिढ़ाया भी करते थे। पूछते—'शादी कब कर रहे हो?' पीरे हँसकर उड़ा देते। सो एक तरह से यह यहाँ का स्थायी मज़ाक था। सोच ही सकते हो, तुम्हारी माँ के न रहने से इनके दिल पर क्या गुज़र रही होगी। मुझे खुद लगा, कि अन्त्येष्टि में शामिल होने की इनकी प्रार्थना को न मानना ज्यादती होगी। हाँ, डाक्टर की सलाह मानकर मैंने पिछली रात इन्हें शव के पास रतजगा नहीं करने दिया था।"

कुछ देर बिना कुछ बोले-चाले हम लोग यों ही बैठे रहे। फिर वार्डन उठकर खिड़की के पास गया और बोला, "अरे, मारेंगो के पादरी साहब तो वो चले आ रहे। वक्त से कुछ पहले ही आ गये।" चर्च गाँव में है और वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते एक-पौन घण्टा लग जायेगा—यह बताकर वार्डन नीचे चला गया।

पादरी मुर्दाघर के सामने ही खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था। साथ में दो 'सहायक' थे। एक के हाथ में धूपदान था। उसके ऊपर झुका-झुका पादरी उसे लटकानेवाली चाँदी की जंजीर ठीक कर रहा था। हमें देखा तो तनकर सीधा खड़ा हो गया। मुझसे 'बेटे-बेटे' कहकर दो-चार बातें कीं। फिर आगे-आगे मुर्दाघर में चल दिया।

घुसते ही मैंने देखा कि ताबूत के पीछे चार व्यक्ति काले कपड़े पहने खड़े हैं। पेच कसे जा चुके थे। ठीक उसी समय वार्डन को कहते सुना कि ताबूत ले चलने की गाड़ी आ गयी है। पादरी ने प्रार्थनाएँ शुरू कर दीं।

इसके बाद सब लोग चल पड़े। काले रंग की एक पट्टी को पकड़े-पकड़े वे चारों व्यक्ति तावूत के पास आ गये। उनके पीछे-पीछे लाइन में पादरी, प्रार्थनाएँ गानेवाले लड़के और फिर मैं। दरवाज़े से लगी एक महिला खड़ी थी। इसे मैंने पहले नहीं देखा था। वार्डन ने उसे वताया, "यही मोशिये म्योरसोल हैं।" उसका नाम मेरे पल्ले नहीं पड़ा, लेकिन यह समझ गया कि इसी आश्रम की परिचारिका सिस्टर है। मेरे परिचय के साथ उसके लम्वे सूखे-से चेहरे पर मुस्कराहट की एक रेखा तक नहीं झलकी। वस, वह ज़रा-सा सामने झुककर रह गयी। तावूत को गुज़रने देने के लिए हम लोग दरवाज़े से हटकर खड़े हो गये; तावूत निकल गया तो ले चलनेवालों के पीछे-पीछे हो लिये और लम्वा-सा गलियारा पार करके सामनेवाले फाटक पर आ गये। यहाँ तावूत के लिए गाड़ी तैयार खड़ी थी। लम्वी चम-चम करती काली वार्निश-पुती इस गाड़ी को देखकर मुझे दफ्तर के कलमदान का धुँधला-सा ध्यान हो आया।

गाड़ी की वगल में ही अजीवो-गरीव कपड़े पहने एक छोटा-सा व्यक्ति खड़ा था। वाद में जाना, ये साहव अन्त्येष्टि की देख-रेख करने के लिए हैं—एक तरह पुरोहित ही समझो। उसके पास ही, वड़े लाचार और झेंपे-झेंपे-से दीखते मेरी माँ के खासुलखास मित्र महाशय पीरे खड़े थे। सिर पर फैल्ट हैट था, जिसकी टुपिया फिरनी के वर्तन-जैसी और किनारे वेहद चौड़े थे। जूतों पर हारमोनियम के पर्दे की ताल-लय दिखाती पत-लून और चौड़े-चौड़े ऊँचे सफेद कॉलर पर निहायत पिद्दी-सी दीखती काली टाई। जैसे ही तावूत दरवाज़े से वाहर निकला कि आपने झटके से टोप उतार लिया। पकौड़े-जैसी फूली फुंसियों-लदी नाक के नीचे होंठ फड़क रहे थे। लेकिन सवसे ज़्यादा ध्यान उनके कानों की ओर आकर्षित हुआ। कनपटियों की ज़र्दी पर लाख के वुल्लों-जैसे दीखते वाहर को निकले लाल-लाल कान और उनके चारों ओर सिरों पर सफेद-सफेद रेशमी वालों के गुच्छों की गोट।

अण्डरटेकर के सेवकों ने हाँककर हमें अपनी-अपनी जगह कर दिया अर्थात् गाड़ी के सामने पादरी और इधर-उधर काले कपड़े पहने चारों व्यक्ति और गाड़ी के पीछे-पीछे मैं और वार्डन। सवसे पीछे पीरे महाशय

और नर्स।

धूप आसमान में लपट मारने लगी थी और झुलस तेज़ी से बढ़ रही थी। ताप की पहली लपटें तो अपनी पीठ पर मुझे ऐसी लगीं मानो गरम जीभ से कोई चाट रहा हो। काले सूट से तो हालत और भी खराब थी। न मालूम, रवाना होने में इतनी देर करने का क्या कारण था ? पीरे महाशय ने अब फिर टोप उतारकर हाथ में ले लिया। वार्डन ने जब उनके बारे में और भी बताना शुरू किया तो मैं ज़रा उनकी ओर तिरछा मुड़-मुड़कर देखने लगा। याद है, वार्डन कहे जा रहा था कि साँझ के शीतल समय मेरी माँ और ये पीरे महाशय काफी दूर-दूर तक साथ टहलने जाया करते थे; कभी-कभी ये गाँव तक आ जाते। हाँ-हाँ, नर्स तो उनके साथ होती ही थी।

अब मैंने उस खुले वातावरण और ग्राम-प्रदेश की ओर निगाह डाली। देखा, मोरपंखी के पेड़ धरती की उठान के साथ नीचे से घने और दूर की ओर सँकरे होते क्षितिज-रेखा और पहाड़ियों की ओर चले गये हैं। तपी लाल धरती जगह-जगह घनी फैली हरियालियों से भरी है और यहाँ-वहाँ कोई मकान इक्का-दुक्का खड़ा है। तेज़ धूप में उसका एक-एक कोना और मोड़ का उभार साफ दीख रहा है। इस सारे दृश्य को देखकर माँ के मन की बात मेरी समझ में आने लगी। इन प्रदेशों में साँझ के समय ज़रूर ही निहायत मनहूस और नीरस किस्म की शान्ति छायी रहती होगी। इस समय सुबह की इस खुली साफ धूप में भी जब सबकुछ लू-लपट में दप्-दप् दमक रहा है तब भी तो इस खुले फैले प्रान्तर को देखकर ऐसा महसूस होता है मानो यहाँ कुछ अमानवीय है, कुछ है जो मन को बुझा देता है।

आखिरकार काफिला चला। तब पहली बार मैंने देखा कि पीरे थोड़ा पाँव लचकाकर चलते हैं। गाड़ी की चाल ज़रा तेज़ हुई तो बेचारे पीरे महाशय कदम-कदम पिछड़ने लगे। गाड़ी के साथ चलनेवाला एक आदमी भी पीछे छूटते-छूटते मेरे बराबर आ गया। देखकर ताज्जुब होता था कि आसमान में सूरज को पर लग गये हैं—अभी यहाँ तो अभी वहाँ। तभी मैंने ध्यान दिया कि काफी देर से हवा में झुलसती घास की सर-

सराहट और भुनगों की भनन्-भनन् गूँज रही है। पसीना मेरे चेहरे पर चुहचुहा रहा था। टोप नहीं था इसलिए मैं रूमाल से ही हवा करने लगा।

अण्डरटेकर के आदमी ने मेरी ओर पलटकर कुछ कहा। मैं उसकी बात नहीं समझा। दाहिने हाथ से टोप को तिरछा उठाये हुए उसने बायें हाथ के रूमाल से अपनी खोपड़ी की चँदिया पोंछी। मैंने पूछा, "आप कुछ कह रहे थे क्या?" उसने आसमान की ओर इशारा करके कहा, "आज गज़ब की धूप है। क्यों है न?"

"जी हाँ," मैंने कहा।

कुछ ठहरकर उसने पूछा, "हम लोग आपकी माँ को ही तो दफन करने ले जा रहे हैं न?"

"जी हाँ," मैं फिर बोला।

"कितनी उम्र थी?"

"यही समझिए कि किसी तरह चल रही थीं। लेकिन सच तो यह है कि उनकी सही-सही उम्र खुद मुझे नहीं मालूम थी।"

इसके बाद वह चुप हो गया। घूमकर देखा, पीरे महाशय करीब पचासेक गज पीछे लँगड़ाते-लँगड़ाते घिसटे चले आ रहे थे। साथ आ जाने की कोशिश में हाथ-भर आगे अपना बड़ा-सा फैल्ट हैट झुलाते जाते थे। मैंने एक निगाह वार्डन पर भी डाली। वह बिना चेहरे पर कोई भाव लाये बड़े चुस्त और नपे-तुले कदमों से चल रहा था। माथे पर पसीने की बूँदें चुहचुहा आयी थीं; उन्हें भी उसने नहीं पोंछा था।

मुझे लगा, हमारा यह छोटा-सा काफिला ज़रा ज़्यादा ही तेज़ चल रहा है। जहाँ-जहाँ तक निगाह जाती थी वहीं धूप-नहाये खेत-खलिहान दिखायी देते थे। आसमान में ऐसा चौंधा था कि आँख उठाते नहीं बनता था। अब हम लोग ताज़ा-ताज़ा तारकोल पड़ी सड़क के टुकड़े पर चल रहे थे। यहाँ धरती पर गरमी की लहर भभका मार रही थी। कदम पड़ते ही पाँव फच-से चिपक जाता और हटते ही दरार-जैसा काला चमकता निशान छूट जाता। गाड़ी के ऊपर निकला हुआ गाड़ीवाले का चम-चम करता काला टोप भी इसी चिपचिपे तारकोल के लौंदा-जैसा लगता था।

ऊपर की आसमानी-सफेदी का चौंधा, और नीचे चारों तरफ का यह काला-कालापन, अर्थात् गाड़ी का चम-चम करता कालापन, सेवकों के कपड़ों का निस्तेज कालापन और सड़क पर छूटी छापों का यह रुपहला काला-पन, इस सबको देखकर बड़ी अजब-सी अनुभूति होती थी, मानो यह सब सच नहीं, सपना हो। इस सबके साथ ऊपर से छायी थी तरह-तरह की गन्ध—गाड़ी के चमड़े और लीद की गन्ध के साथ मिली-जुली लोबान और अगरु की गन्ध के भभके! रात की उखड़ी-उखड़ी नींद की खुमारी और इस सारे वातावरण के कारण मुझे लगता था जैसे मेरी आँखें और विचार-शक्ति धुँधली हुई चली जा रही हैं।

मैंने दुबारा पीछे मुड़कर देखा। इस बार पीरे महाशय बहुत ही पीछे छूटे दिखायी दिये—गरमी की धुन्ध में कहीं नज़र आयें-आयें कि अचानक एकदम गायब हो गये। आखिर गये कहाँ? कुछ देर की माथा-पच्ची के बाद मैंने अन्दाज़ा लगाया कि वे सड़क छोड़कर खेतों में मुड़ गये हैं। तभी देखा कि सड़क कुछ दूर आगे जाकर मोड़ लेती है। अच्छा, तो पीरे महाशय ने हमें पकड़ने के लिए यह पगडण्डी पकड़ी है! वे यहाँ आस-पास की जगहों से खूब परिचित हैं। सड़क पर हम लोग जैसे ही घूमे कि वे हमारे साथ आ गये। लेकिन धीरे-धीरे फिर पिछड़ने लगे। आगे जाकर उन्होंने फिर इसी तरह एक पगडण्डी पकड़ी। आध घण्टे में यह कई बार हुआ तो शीघ्र ही उनकी इस हरकत में मेरी दिलचस्पी समाप्त हो गयी। कनपटियों में भड़कन हो रही थी और मैं जैसे-तैसे अपने को घसीट रहा था।

इसके बाद का सारा काम बड़ी हबड़-दबड़ में और कुछ ऐसे मशीनी नपे-तुले ढंग से हुआ कि मुझे अब कोई भी बात याद नहीं। हाँ, याद है बस इतना कि जब हम गाँव के सिरे पर पहुँचे तो नर्स ने मुझसे कुछ कहा था। उसका स्वर सुनकर मैं चौक पड़ा। चेहरे से इस स्वर का कोई मेल नहीं था। स्वर बड़ा मधुर और कम्पन-भरा था। वह कह रही थी, "अगर बहुत धीरे-धीरे चलिए तो लू लगने का खतरा और तेज़-तेज़ चलिए तो शरीर पसीने से तर-बतर! तब चर्च की ठण्डी हवा लगते ही जुकाम का हमला!" उसकी बात मैंने समझी। मतलब था कि आदमी को एक न

एक चीज़ तो भुगतनी ही थी।

अन्त्येष्टि के समय की कुछ और बातें भी अभी तक याद रह गयी हैं। जैसे, गाँव के ठीक बाहर जब आखिरी बार बुढ़ऊ ने हमें पकड़ा था उस क्षण का उनका चेहरा। शायद थकान या दुख से या शायद दोनों के कारण आँखों से धार-धार आँसू बह रहे थे। लेकिन खाल की झुर्रियों के कारण आँसू नीचे नहीं टपक पाते थे और वहीं झुर्रियों में आड़े-तिरछे फैल जाते थे। इससे वह थका-पस्त बूढ़ा चेहरा गीला-गीला चमकता दीखता था।

चर्च की शक्ल और आस-पास का वातावरण; सड़क पर चलते-फिरते गाँववाले; कब्रों पर खिले हुए लाल-लाल जरेनियम के फूल; कपड़े की गुड़िया की तरह पीरे का बेहोशी के दौरे में लुढ़क पड़ना; माँ के ताबूत पर मुट्ठियाँ भर-भरकर पड़ती मटमैली मिट्टी का गिरना; उस मिट्टी में मिले सफेद-सफेद जड़ों के तिनके; फिर और लोगों की भीड़; आवाज़ें; कैफे के बाहर खड़े होकर बस की प्रतीक्षा करना; इंजन की खड़ड़-खड़ड़; अल्जीयर्स की जगर-मगर करती सड़कों पर अपनी बस के प्रवेश के साथ ही खुशी की झुरझुरी महसूस करते हुए घर पहुँचकर सबसे पहले बिस्तरे पर जाकर पड़ने और बारह घण्टे लम्बी तानकर सोने की कल्पना करना; यह सब मुझे अब भी याद है।

दो

नींद टूटने पर समझ में आया कि क्यों मेरे दो दिनों की छुट्टी माँगने से साहब का मुँह उतर गया था। आज शनिवार था। उस समय तो यह बात ही मेरे दिमाग में नहीं थी। वह तो अब, बिस्तर छोड़ते समय मुझे ख़याल आया। ज़रूर साहब ने सोचा होगा कि इस तरह तो मैं पूरे चार दिनों की छुट्टियाँ झाड़े ले रहा हूँ। यह बात उनके गले उतरती ही क्यों? ख़ैर, पहली बात तो यह कि माँ को आज की बजाय कल दफन किया गया,

इसमें मेरा क्या दोष ? दूसरे, शनि और रवि की छुट्टी तो मुझे हर हालत में मिलनी ही थी। वहरहाल, इसमें मैंने अपने साहव का दृष्टिकोण न समझा हो, ऐसा नहीं है।

पिछले दिन जो गुज़रा था, उसने सचमुच मुझे ऐसा पस्त कर डाला था कि उठना मुसीवत लग रहा था। हजामत वनाते-वनाते सोचने लगा कि आज सारा दिन कैसे काटा जाये। तय किया कि तैरने से तवीयत कुछ न कुछ तो सुधरेगी ही, सो सीधी बन्दरगाह जानेवाली ट्राम पकड़ी।

वही पुरानी रफ्तार थी। सन्तरण-कुण्ड में युवक-युवतियों का जमाव था। उन्हीं में हमारे दफ्तर की भूतपूर्व टाइपिस्ट मेरी कार्डोना भी दिखायी पड़ी। मेरा भी झुकाव उन दिनों उसकी तरफ खासा था और समझता हूँ, वह भी मुझे पसन्द करती थी। लेकिन हमारे यहाँ यह रही ही इतनी कम कि कुछ बात नहीं वनी।

तैरनेवाले तख्ते पर चढ़ने में सहारा देते हुए मैंने ज़रा उसकी छातियों पर भी हाथ फेर दिये। वह तख्ते पर चित लेट गयी और मैं खड़ा-खड़ा पानी में तैरता चलने लगा। पलभर बाद वह करवट लेकर मुझे देखने लगी। मैं भी छाती के बल सरककर उसकी वगल में लेट गया। हवा बड़ी सुहानी-गरम थी। खेल-खेल में मैंने अपना सिर उसकी गोद में गड़ा दिया। लगा, उसने बुरा नहीं माना, तो सिर वहीं रखे रहा। सारा नीला और सुनहला आकाश मेरी आँखों में उतर आया था और मेरी के पेट का मेरे सिर के नीचे हल्के-हल्के उठना-गिरना मेरे तन-मन को विभोर किये दे रहा था। हम दोनों ही उस तन्द्रिल अवस्था में कम से कम आध घण्टा तो उस तख्ते पर तैरे ही होंगे! धूप जव वहुत तेज़ हो गयी तो उसने उछलकर पानी में गोता लगाया। मैं भी उसके पीछे-पीछे कूदा और पकड़कर अपनी बाँहें उसकी कमर के इर्द-गिर्द डाल लीं। हम यों ही अगल-बगल लेटे तैरने लगे। वह लगातार हँसे जा रही थी।

फिर सन्तरण-कुण्ड (स्विमिंग-पूल) के किनारे खड़े-खड़े हम लोग अपने शरीर सुखा रहे थे तो वह बोली, "तुम्हारा रंग मुझसे साफ है।" मैंने पूछा, "शाम को मेरे साथ सिनेमा चलोगी ?" वह फिर हँसने लगी। बोली, "हाँ, हाँ।" लेकिन उसने शर्त यह रखी कि उस मज़ाकिया खेल

में चलेंगे जिसमें फर्नान्देल ने काम किया है। आजकल बच्चे-बच्चे की ज़बान पर उसकी चर्चा है।

हमने कपड़े पहन लिये तो वह आँखें फाड़-फाड़कर मेरी काली टाई को देखते हुए पूछने लगी, "क्या बात है? कोई गमी हो गयी है क्या?" मैंने माँ के न रहने की बात बतायी। पूछा, "कब?" "कल," मैंने कहा। वह मुँह से तो कुछ नहीं बोली लेकिन लगा, जैसे सकुचकर परे सरक गयी। जीभ तक आयी बात मैंने दबा ली कि इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है। याद आया, यही बात मैंने साहब से भी कही थी। उस वक्त कैसी मूर्खतापूर्ण लगी थी। यों मूर्खतापूर्ण लगे या न लगे, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी बातों से मन में अपराध-भावना ज़रूर महसूस होने लगती है।

बहरहाल, साँझ तक मेरी सारी बातें भूल-भाल गयीं। कहीं-कहीं फिल्म मज़ाकिया ज़रूर थी, लेकिन सब मिलाकर थी सोलहों आना बकवास ही। वह मेरे पाँव-से-पाँव रगड़ती रही और मैं उसकी अपनी ओर वाली छाती से छेड़खानी करता रहा। तस्वीर जब खत्म होनेवाली थी तो मैंने उसे चूम लिया। लेकिन यह चूमना बड़े बेहूदे ढंग से हुआ। फिर वह साथ-साथ घर आयी।

मेरी नींद टूटने से पहले ही वह चली गयी थी। वह बताती थी कि मौसी घर में सबसे पहले उसे ही तलाश करती हैं। याद आया, आज तो रविवार है। मन खराब हो गया। इस कम्बख्त रविवार का मुझे कभी खयाल ही नहीं रहता। मैं तकिए में सिर घुसाकर मेरी के केशों से लगी खारी-खारी गन्ध को अलस भाव से साँस के साथ पीने लगा। दस तक टाँगें पसारकर सोया और इसके बाद भी सिगरेट-पर-सिगरेट फूँकता दोपहर तक बिस्तर पर ही करवटें बदलता रहा। तय किया कि आज और दिनों की तरह सेलेस्ते के रेस्त्राँ में खाना नहीं खायेंगे। वहाँ लोग दुनिया-भर के सवाल-जवाब करके नाक में दम कर देते हैं। मुझे यह जिरहबाज़ी पसन्द नहीं है। अत: कुछ अण्डे उबाले और उसी बर्तन में रखकर खाये। डबलरोटी बची नहीं थी और नीचे से खरीदकर लाने की तबालत मंजूर नहीं थी; सोचा, बिना डबलरोटी ही सही।

खाने के वाद समझ में ही नहीं आया कि अव करूँ तो क्या करूँ ! बस, अपने उस छोटे-से फ्लैट में ही इधर से उधर चक्कर लगाता रहा। माँ साथ थी तो यह फ्लैट हमारी रिहायश के लिए काफी था। अव मुझ अकेले के लिए तो वहुत बड़ा पड़ता था सो मैं खाने की मेज़ को सोने के कमरे में ही खींच लाया था। मेरे उपयोग का वस यही कमरा रह गया था। सारा ज़रूरत का फर्नीचर इसमें था—पीतल का पलंग, एक श्रृंगार-मेज़, बेंत की कुछ कुर्सियाँ, जिनमें वैठने की जगह गड्ढे पड़ गये थे, दाग-दगीले शीशेवाली कपड़े टाँगने की आलमारी। वाकी के फ्लैट से चूँकि काम ही नहीं पड़ता था, इसलिए मैंने उसकी साज-सँवार का सिरदर्द भी छोड़ दिया।

जव देखा कि कुछ करने को ही नहीं है तो फर्श पर पड़ा जाने कब का पुराना अखवार ही उठाकर पढ़ने लगा। उसमें 'कुशेन-साल्ट' का एक विज्ञापन था, मैंने उसे काटकर अपने अलवम में चिपका लिया। अखवार में जो चीज़ें मुझे मजेदार लगती थीं, उन्हें मैं इसी अलवम में चिपका लेता था। मल-मलकर हाथ धोये और लाचार वाहर वालकनी में निकल आया। जव कहीं मन न लगता तो, मैं यहीं आ जाता।

सोनेवाला कमरा मुहल्ले की खास सड़क की तरफ पड़ता था। हालाँकि मौसम बड़ा खुला और सुहाना था, लेकिन सड़क के पत्थर अब भी काले-काले चमक रहे थे। सड़क पर भीड़ नहीं थी और जो भी दो-चार आदमी थे सब निरुद्देश्य निरर्थक भाग-दौड़ करते लगते थे। सबसे पहले छुट्टी की साँझ को सैर करने जाता हुआ एक परिवार आता दिखायी दिया। आगे-आगे मल्लाहों जैसे सूट पहने दो छोटे-छोटे छोकरे थे, उनकी पतलूनें मुश्किल से टखनों तक पहुँचती थीं और रविवार के अपने सवसे अच्छे कपड़ों में भी वे उजवक-से दीखते थे। फिर बड़ी-सी गुलावी 'वो' लगाये काले पेटेंट चमड़े के जूते पहने छोटी-सी लड़की, पीछे-पीछे बादामी रंग के रेशमी कपड़ों में उनकी भारी-भरकम माँ और चुस्त-दुरुस्त कपड़ों में उनका वाप। इस व्यक्ति को मैं शक्ल से पहचानता था। सिर पर चटाई का टोप, हाथ में छड़ी और वटरफ्लाई-टाई। इसे पत्नी की वगल में चलते हुए देखा तो समझ में आ गया कि लोग क्यों इसके वारे में कहते हैं—खुद अच्छे ऊँचे कुल का है लेकिन शादी इसने अपने से नीचे कुल में कर ली है।

इनके वाद नौजवानों का दल गुजरा। ये मुहल्ले के 'शोहदे' थे—तेल चुआते वाल, लाल-लाल टाइयाँ, वहुत तंग कमरवाले कोट, वेल-बूटे कढ़ी जेवें और चौकोर पंजोंवाले जूते! अन्दाज़ लगाया, ज़रूर ये लोग शहर के वीचवाले किसी सिनेमाघर की तरफ़ धावा बोल रहे हैं। तभी तो घर से इतनी जल्दी निकल पड़े हैं और गला फाड़-फाड़कर हँसते-वतियाते ट्राम-स्टॉप पर धमा-चौकड़ी मचाये हैं।

उनके जाने के वाद सड़क धीरे-धीरे सूनी हो गयी। अब तक सारे मैटिनी-शो शुरू हो चुके होंगे। इक्का-दुक्का दुकानदार और एकाध विल्ली ही सड़क पर नजर आती थी। सड़क के किनारे लगी अंजीर के पेड़ों की कतार के ऊपर आसमान साफ़ था, लेकिन धूप तेज़ नहीं थी। सामने की पटरी का तम्वाकूवाला भीतर से एक कुर्सी निकाल लाया और अपने दरवाजे के सामने फुटपाथ पर दोनों टाँगें इधर-उधर करके कुर्सी की पीठ पर वाँहें टेककर वैठ गया। कुछ क्षण पहले ट्रामें भरी जा रही थीं, अव एक-दम खाली हो गयीं। तम्वाकूवाले की वगल के छोटे-से खाली रेस्त्राँ 'शे-पीयरो' में, वैरा बुरादा झाड़कर वाहर निकाल रहा था। हू-ब-हू इतवार की साँझ थी···।

मैंने भी अपनी कुर्सी घुमायी और सामने के तम्वाकूवाले की तरह टाँगें इधर-उधर करके वैठ गया। वह ज़्यादा आरामदेह था। दो सिगरेट फूंक चुकने के बाद उठा और भीतर कमरे से जाकर चाकलेट की टिकिया उठा लाया। सोचा, खिड़की पर खड़े होकर खाऊँगा। देखते-देखते आस-मान में बादल घिर आये तो लगने लगा अव अत्धड़ आनेवाला है। खैर, वादल तो धीरे-धीरे सरक गये, लेकिन जाते-जाते सड़क पर वारिश का सा खतरा ज़रूर पैदा कर गये, यानी गहरा अँधेरा और नमी छा गयी। देर तक खड़ा-खड़ा मैं आसमान को निहारता रहा।

पाँच वजे फिर ट्रामों की टन-टन गूँजने लगी। हमारे शहर के वाहर की वस्ती में फुटबाल मैच था। ट्रामें वहीं से भरी-भराई लौट रही थीं। पीछे के पट्टों पर भी भीड़ थी और लोग सीढ़ियों पर लदे थे। फिर एक ट्राम खिलाड़ियों के दल को लेकर आयी। जिन-जिनके हाथ में सूटकेस थे, उन्हें मैं देखते ही जान गया कि खिलाड़ी यही हैं। ये लोग गला फाड़-

फाड़कर अपने दल का गाना गा रहे थे —"यारो, गेंद बढ़ाये जाओ···" एक मेरी ओर देखकर चिल्लाया, "छक्के छुड़ा दिये सालों के।" मैंने भी जवाब में हाथ हिलाया और चिल्लाकर बोला : "शाबाश"। इसके बाद प्राइवेट कारों की अटूट लैन-डोरी शुरू हो गयी।

आसमान के तेवर फिर बदले। छतों के पार सिंदूरी रोशनी फैलने लगी। जैसे-जैसे गोधूलि हो रही थी, सड़क की भीड़ भी बढ़ती जा रही थी। लोग-बाग सैर-सपाटे कर-करके लौट रहे थे। आनेवालों में वही चुस्त-दुरुस्त छोटा-सा आदमी और उसकी मोटी-ताजी पत्नी दिखायी पड़े। थके-माँदे बच्चे माँ-बाप के पीछे ठुनकते-घिसटते चले आ रहे थे। कुछ देर बाद मुहल्ले के सिनेमाओं की भीड़ छूटी। मैंने देखा, सिनेमा देखकर आनेवाले नौजवान बड़े जोश-खरोश से हाथ-पाँव हिलाते, लम्बे-लम्बे डग भरते चले आ रहे हैं। साधारणतया ये लोग ऐसे नहीं चलते। जिस सिनेमा से आ रहे हैं, वह जरूर पश्चिमी मार-धाड़ किस्म का कोई खेल होगा। शहर के बीच के सिनेमाघरों से आनेवाले कुछ ठहरकर आये। ये ज़्यादा संजीदा थे। यों कुछ हँस भी रहे थे, लेकिन कुल मिलाकर बड़े लस्त-पस्त और थके-माँदे दीखते थे। कुछ अब भी मेरी खिड़की के पीछे मटरगश्ती करते छूट गये थे। तभी बाँह में बाँह डाले लड़कियों का एक झुण्ड आया। खिड़की के नीचेवाले नौजवान एक तरफ झुककर इस अदा से चलने लगे कि उनसे शरीर रगड़ते हुए निकलें। उन्होंने कुछ बोलियाँ भी कसीं, जिन्हें सुनकर लड़कियाँ सिर घुमा-घुमाकर खिल-खिल हँसने लगीं। इन लड़कियों को मैं पहचानता था, ये इधर के हिस्से की ही रहनेवाली थीं। जान-पहचान की दो-तीन ने ऊपर देखकर मेरी तरफ हाथ भी हिलाये।

तभी सड़क की बत्तियाँ एक साथ 'भक्' से जल उठीं और अँधेरे आसमान में जो तारे टिमटिमाने लगे थे वे सबके सब एकदम फीके पड़ गये। इतनी देर सड़क की हलचल और तरह-तरह की बदलती रोशनियों को देखते-देखते मेरी आँखें दर्द करने लगीं थीं। बत्तियों के नीचे प्रकाश के झरने झर रहे थे। रह-रहकर कोई ट्राम गुजर जाती और उसकी रोशनी में किसी लड़की के बाल, मुस्कुराहट या चाँदी की चूड़ियाँ झलक

उठतीं···।

इसके बाद धीरे-धीरे ट्रामें कम होती गयीं, पेड़ों और बत्तियों के ऊपर के आसमान का अँधेरा घना और गाढ़ा-गाढ़ा मखमली होता गया, और धीरे-धीरे सड़क खुद-ब-खुद सूनी होती गयी। आखिर चारों तरफ एकदम सन्नाटा छा गया। देखा, साँझवाली वही बिल्ली निर्जन सड़क को निहायत इत्मीनान से टहलती हुई पार कर रही है।

अब मुझे खयाल आया कि खाने-पीने का कुछ जुगाड़ होना चाहिए। सिर झुकाकर नीचे देखते-देखते मैं अपनी कुर्सी की पीठ पर इतनी देर से लदा था कि अँगड़ाई ली तो गर्दन दर्द करने लगी। नीचे जाकर कुछ डबल-रोटी और सेंवइयाँ खरीदीं। खाना पकाया और खड़े-खड़े ही खा डाला। मन था कि खिड़की पर खड़े-खड़े ही एक सिगरेट और फूंक लूं, लेकिन रात में काफी ठण्ड पड़ने लगी थी सो विचार छोड़ दिया। खिड़की बन्द करके भीतर आया, तो निगाह शीशे पर पड़ी। देखा, उसमें मेज़ का एक कोना दिखायी दे रहा है, उस पर स्प्रिट का लैम्प और पास में डबल-रोटी के कुछ टुकड़े पड़े हैं। तब मुझे एकाएक लगा कि चलो, एक रविवार तो जैसे-तैसे पार हुआ। माँ का अन्त्येष्टि संस्कार हो गया। अब कल से फिर वही दफ्तर का राग शुरू हो जायेगा। सचमुच, मेरी ज़िन्दगी में तो कुछ भी नहीं बदला, सबकुछ जैसे का तैसा है।

तीन

सुबह दफ्तर में बड़ा काम था। साहब का मिजाज़ खुश था। उन्होंने पूछा, "बहुत थक तो नहीं गये ?" इसके बाद ही माँ की उम्र पूछी। मैं कुछ देर सोचता रहा। गलती न कर जाऊँ इसलिए बताया, "होगी, यही कोई साठ के आस-पास।" इससे, पता नहीं क्यों, उनके चेहरे पर ज़रा बेफिक्री आ गयी और लगा जैसे विचारों में डूब गये। बात खत्म हो गयी।

डेस्क पर मेरे लिए जहाजी बिल्टियों का गट्ठर लगा रखा था; सबको निपटाना पड़ा। दोपहर को, खाने जाने से पहले, मैंने हाथ धोये। दोपहर को हाथ धोने में मुझे हमेशा बड़ा मजा आता है। अनेक लोगों के इस्तेमाल से वाश-वेसिन के ऊपर डण्डे से लिपटी तौलिया पानी से तर-बतर हो जाती है। इसलिए सन्ध्या को उतना अच्छा नहीं लगता। एक बार मैंने साहब से भी इस बात की शिकायत की थी लेकिन उनके लिए यह कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण बात न थी। हाँ, बस यह कहकर रह गये कि बड़े अफसोस की बात है। और दिनों के मुकाबले आज कुछ देर से अर्थात् साढ़े बारह पर दफ्तर से निकला। चालान-विभाग में काम करनेवाला इमानुएल भी साथ था। दफ्तर की बिल्डिंग का मुँह समुद्र की ओर था। हम लोग कुछ देर सीढ़ियों पर खड़े-खड़े जहाजों की लदाई-उतराई देखते रहे। धूप भयानक तेज थी। तभी जंजीरों की खनन-खनन और इंजन से फटाफट की आवाजें छोड़ता एक बड़ा-सा ट्रक सामने से आता दिखायी दिया। इमानुएल ने सुझाया, आओ, लपककर इस पर चढ़ जायें। मैंने दौड़ लगायी। ट्रक काफी आगे निकल गया था सो हमें खासी दूर तक उसके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ा। इंजन के शोर-शरावे और गर्मी के कारण मेरी आँखों के आगे अँधेरा सा छा गया। होश था तो बस इतना कि हम लोग समुद्र के किनारे-किनारे क्रेनों और चर्खियों के बीच अन्धा-धुन्ध भागे चले जा रहे हैं। मैंने ट्रक को पहले पकड़ा। छलाँग लगाकर जब सही-सलामत ऊपर पहुँच गया तो एमानुएल को भी अपनी बगल में खींच लिया। एक तो दोनों की वैसे ही साँस फूली हुई थी, फिर ऊपर से सड़क पर बिखरी गिट्टियों के कारण ट्रक की उछल-कूद ने हालत और भी खस्ता कर डाली। इमानुएल बत्तीसी दिखाकर खुशी से हँसने लगा।

हाँफते-हाँफते कान में बोला, "आखिर किला फतह कर ही लिया।"

सेलेस्ते के रेस्त्राँ तक पहुँचते-पहुँचते तो हम लोग पसीने से लथपथ हो गये थे। सामने की ओर निकली मूँछोंवाला सेलेस्ते तोंद पर फूला चोगा (एप्रन) चढ़ाये उसी दरवाजे के पासवाली अपनी बँधी जगह पर डटा था। मुझे देखकर उसने हमदर्दी जतायी, "बहुत दुख तो नहीं हो रहा न?"

मैंने कहा, "नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।" लेकिन भूख के मारे मेरा दम निकला जा रहा था। चटपट खाना खाया और ऊपर से कॉफी की तह जमा ली। सीधा घर पहुँचा। एकाध गिलास शराब ज़्यादा चढ़ा ली थी, इसलिए हल्की सी झपकी ली। जागकर, बिस्तर छोड़ने से पहले एक सिगरेट फूँकी। देरी हो गयी थी, इसलिए फुर्ती से दौड़कर ट्राम पकड़नी पड़ी। दफ्तर में भी काफी घुटन थी। ऊपर से सारी सन्ध्या बुरी तरह घुटना पड़ा। दफ्तर बन्द हुआ तो जान में जान आयी। माल लादनेवाले समुद्री घाट पर जाकर शीतल-ठण्डे वातावरण में देर तक चहलक़दमी करता रहा। आसमान हरा-हरा हो रहा था। दफ्तर के दमघोटू माहौल से निकलकर यहाँ बड़ा सुखद-सुहावना लगता था। खैर, आलू उबलने के लिए चढ़ाने थे सो सीधा घर आया।

हाल में अँधेरा था। जैसे ही सीढ़ियाँ चढ़ने लगा कि बूढ़े सलामानो से टक्कर हो गयी। यह हमारे तल्ले पर ही रहता है। हस्ब मामूल कुत्ता साथ था। पिछले आठ सालों से दोनों अभिन्न की तरह रहते हैं। देखने में उसका यह स्पेनियल कुत्ता काफी कुरूप और जंगली लगता है। मेरा खयाल है, खाज-जैसी कोई बीमारी भी उसके शरीर पर है; तभी तो बाल उड़ गये हैं और सारा शरीर कत्थई चकत्तों से भरा पड़ा है। शायद अपने छोटे-से कमरे में हमेशा कुत्ते के साथ ठुँसे रहने के कारण सलामानो ने भी उससे बहुत-से गुण ले लिये हैं—उसके मूँज-जैसे बाल बहुत कम हो गये हैं और चेहरे पर लाल-लाल चकत्ते पड़ गये हैं। उधर कुत्ते न अपने मालिक को कन्धे सिकोड़ने और कमर झुकाकर चलने की आदत सीख ली है और वह हमेशा थूथन सामने निकाले, नाक से जमीन छूता हुआ चलता है। मगर एक बात बड़ी मजेदार है, दोनों एक-दूसरे से मिलते चाहे जितने हों, एक को दूसरा फूटी आँख नहीं सुहाता।

दिन में दो बार बुड्ढा कुत्ते को घुमाने ले जाता है—ग्यारह और छः बजे। पिछले छः साल से इस घूमने में कभी कोई फर्क नहीं आया। आप जब चाहें तब 'र्‍यू-डी-ल्यों' में दोनों को देख लीजिए। सारा दम लगाकर कुत्ता मालिक को इस बुरी तरह घसीटता ले जा रहा होगा कि लगेगा, बुढ़ऊ अब गिरे अब गिरे। तब यह कुत्ते की मरम्मत करेंगे और

बुरी-बुरी गालियाँ देंगे। सिमटकर कुत्ता पीछे खींचेगा और अब मालिक साहब कुत्ते को घसीटते हुए ले जा रहे होंगे। लेकिन पलभर बाद ही कुत्ता यह मार भूल-भाल जायेगा और फिर जंजीर खींचता आगे-आगे चलने लगेगा। बदले में फिर ठुकाई होगी और पहले से भी ज़्यादा गालियाँ मिलेंगी। तब दोनों के दोनों पटरी पर अचानक रुककर खड़े हो जायेंगे और फाड़ खानेवाली आँखों से एक-दूसरे को घूरेंगे; कुत्ते की आँखों में खौफ होगा और मालिक की आँखों में नफरत। जब भी ये दोनों निकलते हैं, हमेशा यही होता है। कुत्ता अगर बिजली के लट्ठे के पास रुकना चाहेगा तो बुढ़ऊ उसे रुकने नहीं देंगे, घसीटे चले जायेंगे। तब यह कम्बख्त चलते-चलते ही बूंदें टपकाता जायेगा। लेकिन भीतर कहीं कमरे में अगर कुत्ता कहीं पेशाब कर दे तो और भी ठुकाई हो।

आठ साल से यही होता चला आ रहा है। सेलेस्ते तो हमेशा कहता है, "चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है। इसका कुछ न कुछ इलाज होना जरूरी है।" लेकिन इलाज क्या हो ?

हॉल में हमारी भिड़न्त के समय सलामानो कुत्ते पर बमक रहा था और "दोगले, लीचड़, लेंडी कुत्ते···" जैसी गालियाँ दे रहा था। मैंने कहा, "नमस्कार" लेकिन वहाँ सुनने की फुरसत किसे थी ? वहाँ तो धारा-प्रवाह गालियाँ चल रही थीं। सोचा, लाओ, यही पूछ लो कि कुत्ते ने इस बार क्या कर डाला ? मगर फिर भी जवाब नहीं मिला। हाँ, वह गाली-गलौज जारी रही, 'साले, लेंडी···' इत्यादि-इत्यादि वही सब। साफ-साफ तो नहीं दीखा, लेकिन लगा सलामानो कुत्ते के गले के पट्टे में कुछ ठीक कर रहा था। मैंने इस बार जरा और जोर से पूछा। बिना पलटे ही, जल-भुनकर मुँह ही मुँह में वह बड़बड़ाया, 'साला, कम्बख्त···हमेशा बीच में टाँग अड़ाता है।' इसके बाद जैसे ही उसने सीढ़ियाँ चढ़नी शुरू कीं कि कुत्ता सारा जोर लगाकर पीछे खींचने लगा, और फर्श पर पसरकर पड़ गया। अब, बुढ़ऊ को कुत्ते की जंजीर पकड़कर एक-एक सीढ़ी ऊपर घसीटना पड़ा।

उसी समय हमारे तल्ले पर रहनेवाला एक और आदमी भी सड़क की ओर से भीतर आया। इसके बारे में यहाँ आम धारणा है कि यह

औरतों का दलाल है। मगर इससे पूछो कि क्या काम करते हो, तो बताता है कि वह मालगोदाम में नौकर है। हाँ, यह जरूर है कि अपनी सड़क पर इसे ज्यादा लोग नहीं जानते। मुझसे तो अक्सर इसकी दुआ-सलाम हो जाती है। मैं ही एक ऐसा आदमी हूँ जो ध्यान से इसकी बात सुन लेता हूँ, सो कभी-कभी एकाध बात करने मेरे कमरे में भी आ जाता है, और सच पूछो तो मुझे इसकी बातें काफी रोचक लगती हैं। शायद इसीलिए मुझे इससे कन्नी काटने की कोई वजह नहीं दिखायी देती। नाम है, सिन्ते —रेमण्ड सिन्ते। गठीले बदन का ठिगना-सा कद, घूंसे-बाजों जैसी नाक और हमेशा चुस्त-दुरुस्त कपड़ों में लैस! एक बार सलामानो को लेकर इसने भी मुझसे कहा था, "बेशर्मी की हद है।" फिर पूछा था, "जिस ढंग से यह बुड्ढा कुत्ते के साथ पेश आता है, इससे आपको नफरत और चिड़-चिड़ाहट नहीं होती ?" मैंने जवाब दिया, "नहीं तो।"

हम दोनों—सिन्ते और मैं—ने साथ-साथ सीढ़ियाँ चढ़ीं। मैं अपने कमरे की ओर मुड़ने को हुआ, तो बोला, "देखिए, आप आज खाना मेरे ही साथ खायें तो कैसा रहे? हलुआ और शराब है अपने यहाँ आज।"

सोचा, चलो अपना खाना बनाने के झंझट से जान छूटी। कहा, "बहुत-बहुत शुक्रिया।"

कमरा इसके पास भी एक ही है। बिना जंगलेवाली छोटी-सी रसोई है। देखा, बिस्तर के ऊपर टाँड़ पर गुलाबी और सफेद पलस्तर की बनी देवदूत की मूर्ति रखी है। सामनेवाली दीवार पर नामी खिलाड़ियों और नंगी औरतों की तस्वीरें पिन लगाकर ठुकी हुई हैं। बिस्तर नहीं किया गया था और कमरे में चारों तरफ गन्दगी थी। घुसते ही उसने जाकर मोमवाला लैम्प जलाया। फिर, जेबों में हाथ ठूंस-ठूंसकर कपड़े की चीकट-सी पट्टी निकाली और उसे सीधे हाथ पर लपेटा। मैंने पूछा, "क्या तकलीफ है?" बोला, "एक आदमी ने बड़ा तंग कर रखा था, सो उसी से जरा हाथापाई हो गयी।"

बताने लगा, "मुसीबत मोल लेता फिरूं, ऐसा आदमी मैं नहीं हूं। हाँ, यह और बात है कि गुस्सा जरा जल्दी आ जाता है। वह आदमी ललकारकर बोला, 'मर्द बच्चा है तो ट्राम से नीचे उतर।' मैंने कहा,

'बक-बक मत कर। मैंने तेरा कुछ नहीं बिगाड़ा।' इस पर बोलता क्या है, 'साले में हिम्मत ही नहीं है।' मैंने कहा, 'जबान बन्द करता है या आकर मैं करूँ ?' तो जवाब देता है, 'जरा करके तो देख...' मुझमें इतनी ताब कहाँ ? जो दनाक्-से मुक्का उसके मुँह पर रसीद किया तो चारों खाने चित्त ! मैं कुछ देर रुका कि अब उठे, अब उठे। फिर उसे सहारा देकर खड़ा करने लगा। लेकिन जब कुछ और बस नहीं चला तो आपने पड़े-पड़े वहीं से लात चला दी। अब तो मैंने घुटने का एक रद्दा और देकर जो दो झापड़ और लगाये कि सूअर की तरह खून थूकने लगा। मैंने पूछा, 'कहो, अब तो जी भर गया न ?' बोला, 'जी हाँ—'

बातें करते-करते सिन्ते अपनी पट्टी भी ठीक करता जाता था। मैं बिस्तरे पर बैठ गया था।

वह बोला, "सो भाई साहब, आप ही बताइए, इसमें मेरा क्या कुसूर ? वह तो खुद चाहता था। मैं ठीक कहता हूँ न ?"

मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया। वह बोलता रहा, "लेकिन बात यह है कि मैं एक-दूसरे ही मामले में आपकी सलाह चाहता हूँ। यों उसका सम्बन्ध इस बात से भी है। आपने मुझसे ज़्यादा दुनिया देखी है। मुझे पता है, आप मेरी मदद कर सकते हैं। अगर आप इतना कर दें तो मैं जिन्दगीभर आपका साथ दूँगा। भाई साहब, मैं कभी किसी का अहसान नहीं भूलता।"

जब इस पर भी मैं कुछ नहीं बोला तो उसने पूछा, "आप चाहें तो हम लोग पक्के दोस्त हो जायें...? मैंने कहा, "मुझे क्या आपत्ति है..." लगा, इससे उसकी तसल्ली हुई। उसने भुना-पुडिंग निकालकर बर्तन में पकाया और शराब की दो बोतलें मेज पर रखकर खाना सजा दिया। इस बीच वह एकदम चुप रहा।

जब हम खाने बैठे तो उसने अपनी रामकहानी शुरू कर दी। शुरू में जरा-सी झिझक थी, बाद में नहीं रही।

"यह सारा झगड़ा भी वहीं एक लड़की के पीछे है। बात यह है कि काफी दिनों से मेरे और उस लड़की के लगातार शरीर-सम्बन्ध हैं। और आपसे क्या छिपाना मैंने उसे रखैल की तरह रख लिया था। अच्छी-खासी

रकम मुझे उस पर खर्च करनी पड़ती थी। जिस आदमी की मैंने ठुकाई की है वह उसी का भाई है।"

जब देखा कि मैं कुछ नहीं बोल रहा तो वह बताने लगा कि उसे पता है, आस-पास के लोग साले उसे लेकर क्या-क्या कहते हैं। लेकिन, यह सोलहो आने बकवास है। औरों की तरह उसके भी अपने सिद्धान्त हैं। वह भी मालगोदाम में काम करता है।

"हाँ, तो मैं आपको बता रहा था कि···" वह कहने लगा, "एक दिन मुझे पता चला कि कम्बख्त मेरे साथ दगा कर रही है। अगर फिजूल-खर्ची न करे तो इतना पैसा मैं उसे दे देता था कि आसानी से अपना काम चलाती रहे। तीन सौ फ्रांक कमरे का किराया देता था, छः सौ फ्रांक उसके खाने-पीने के देता था। फिर कभी मोजे, कभी कुछ, कभी कुछ, दुनिया भर के भेंट-उपहार तो सब चलते ही रहते थे। एक तरह से हज़ार फ्रांक महीने का चक्कर था। लेकिन नवाबजादी का उससे पूरा ही नहीं पड़ता था; हमेशा वही रोना कि मैं जो देता हूँ उसमें खर्चा नहीं चलता। सो भाई साहब, एक दिन मैंने तो कह दिया 'सुनो, दिन में कुछ घण्टे कुछ कामधाम क्यों न कर लेतीं? इससे मुझे भी जरा आराम हो जायेगा। देखो, इसी महीने मैंने तुम्हें एक नया फ्रॉक लाकर दिया है। तुम्हारा किराया देता हूँ, खाने-पीने के बीस फ्रांक रोज देता हूँ। लेकिन तुम तो कॉफ़ि-रेस्त्राओं में जा-जाकर जाने किन-किन लड़कियों के बीच पैसा फूँकती हो, उन्हें दुनियाभर की चाय-कॉफी पिलाती हो। पैसा तो सारा मेरी ही जेब से जाता है न? मैं तो तुम्हारे साथ शराफत का व्यवहार करता हूँ, और तुम हो कि ये बदला देती हो।' लेकिन काम करने की बात भला वह क्यों सुनने लगी? अपनी ही अपनी लगाये रही, 'तुम जो कुछ देते हो, उससे मेरा काम नहीं चलता।' फिर एक दिन पता लगा कि मेरे साथ चाल खेल रही है···"

आगे सिन्ते मुझे बताता रहा कि कैसे लड़की के बटुए में उसे एक लाटरी का टिकट मिला। जब पूछा कि इसे खरीदने को पैसे कहाँ से आये? तो बता ही नहीं पायी। एक दिन फिर सिन्ते को दो कंगनों की गिरवी-रसीद मिल गयी। इन कंगनों के उसने पहले कभी दर्शन ही

नहीं किये थे।

"तो अब जाकर समझ में आया कि मेरे साथ चाल खेली जा रही है। पहले तो मैंने उसकी अच्छी तरह धुनाई की; खूब खरी-खोटी सुनायी साफ कहा कि 'तुझे तो बस, एक ही चीज़ चाहिए कि कब मौका मिले और कब किसी के साथ मुँह काला करे।' भाई साहब, मैंने तो उसके मुँह पर सुना दिया, 'मेरी जान, एक दिन अपने किये पर पछताओगी और मेरे पास वापस आने को रोओगी। सड़कों पर जूतियाँ चटकानेवाली ये जितनी लड़कियाँ हैं न, आज उन सबको तुम्हारी किस्मत पर रश्क है कि मुझ-जैसे आदमी ने तुम्हें रख रखा है···।"

इसके बाद सिन्ते ने उसकी ऐसी कसकर मरम्मत की कि खून थूकने लगी। "इससे पहले उसे कभी यों पीटा नहीं था। अरे यों ही कभी प्यार-प्यार में एकाध धौल जमा दिया तो क्या हुआ? और इस पर जब वह ज़रा रोती-चिल्लाती थी तो उठकर खिड़की बन्द कर लेता था। बाद में सब ठीक-ठाक हो जाता था। लेकिन इस बार तो मैंने मामला ही जड़ से उड़ा दिया। बस, कसक यही रह गयी कि अच्छी तरह दिमाग दुरुस्त नहीं कर पाया। मेरा मतलब समझे न?"

अब उसने बताया कि बस, इसी बारे में उसे सलाह चाहिए। लैम्प धुंआ छोड़ रहा था। कमरे में इस सिरे से लेकर उस सिरे तक चहलकदमी करना रोककर उसने बत्ती कम की। मैं बिना कुछ बोले-चाले उसकी बात सुनता रहा। पूरी की पूरी बोतल मैंने अकेले चढ़ायी थी सो सिर भन्ना रहा था। अपनी सारी सिगरेटें फूंक चुका था और अब रेमण्ड की सिगरेटों पर धावा बोले था। नीचे, देर से आनेवाली एकाध ट्राम गुजरी और उसके साथ-साथ सड़क की आखिरी चहल-पहल भी खत्म हो गयी। रेमण्ड बोले चला जा रहा था। उसे सबसे ज़्यादा खीझ इस बात पर थी कि मन में उस कम्बख्त लड़की से 'लगाव' भी था। लेकिन इस बार ठान लिया था कि सबक सिखाकर ही मानेगा।

उसने कहा, "पहले तो दिमाग में आया कि उसे किसी होटल में ले जाऊँ और वहाँ जाकर स्पेशल-पुलिस को बुला लूँ। फिर जैसे भी हो पुलिस वालों से कह-सुनकर उसका नाम 'बाजारू-रण्डियों' में दर्ज करा दूँ। बस,

इतने पर तो वह आपे से बाहर हो जायेगी।" बाद में उसने अपने कुछ ऐसे दोस्तों से सलाह ली थी जिनका पेशा ही गुण्डागर्दी का था। ये लोग अपने दुनियाभर के काम निकालने के लिए रण्डियाँ रखते थे। लेकिन उनके पास भी कोई सचमुच कारगर रास्ता नहीं निकला। खैर, मैंने कहा, 'इसके सिवा उसका दिमाग दुरुस्त करने का कोई तरीका ही नहीं है। अरे, एक लड़की ने मेरे साथ दगा की है और आप हैं कि उसे सँभालने का तरीका ही नहीं जानते···लानत है—आपके ऐसे पेशे में रहने पर···।' जब सिन्ते ने जाकर यह बात उनसे कही तो उन्होंने सलाह दी कि तुम उसपर 'बाज़ारू-रण्डी' का ठप्पा लगा दो। अपने-आप ठीक हो जायेगी। लेकिन सिन्ते को यह भी मंजूर नहीं था। अब समस्या यही सामने थी कि काफी सोच-विचारकर कौन-सा रास्ता निकाला जाये। "अच्छा पहली बात तो यह कि मैं आपसे एक और ही चीज चाहता हूँ। बहरहाल, सबसे पहले तो यह बताइए कि मेरी इस कहानी पर कुल मिलाकर आपकी क्या राय है?"

मैंने कहा, "राय-वाय तो कुछ नहीं है। हाँ, कहानी मुझे दिलचस्प लगी है।"

क्या मेरा भी यही खयाल है कि लड़की ने सचमुच उसके साथ चाल खेली है?

मुझे मानना पड़ा कि लगता तो कुछ-कुछ ऐसा ही है। इस पर उसने पूछा कि अगर ऐसा है तो क्या मैं नहीं मानता कि उसे सजा मिलनी चाहिए? या मान लो, मैं उसकी जगह होता तो क्या करता? मैंने कहा, "भाई, ऐसे मामलों में कौन कब क्या कर बैठेगा इसका कोई ठिकाना है? लेकिन उसे मज़ा चखाने की तुम्हारी इच्छा को मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ।"

मैंने और शराब ढाली। रेमण्ड ने दूसरी सिगरेट जला ली और अपना आगे का इरादा समझाता रहा। खूब खरी-खोटी सुनाते हुए वह उसे एक ऐसा चुभता हुआ पत्र लिखना चाहता था कि लड़की तिलमिला उठे और साथ ही उसे अपनी करतूत पर पछतावा भी हो। फिर जब वापस रेमण्ड के पास आ जाये तो यह उसे सम्भोग के लिए बिस्तर पर ले जाये। अब,

उसे यह इतना उत्तेजित करे···इतना उत्तेजित करे कि वासना के आवेश में वह पागल हो उठे। और तव उठाकर उसके मुँह पर थूक दे और लात मारकर कमरे से वाहर फेंक दे। मैं भी मान गया कि योजना वुरी नहीं है। इससे जरूर उसका दिमाग दुरुस्त हो जायेगा।

रेमण्ड कहने लगा, "समस्या यह है कि इस तरह का पत्र लिखने का मेरा बूता नहीं है। यहीं मुझे आपकी मदद चाहिए।" जवाव में मैं जव कुछ नहीं बोला तो उसने पूछा, "अभी एकदम लिख सकेंगे?" मैंने कहा, "नहीं···पर खैर, लाओ, लिख ही डालूँ।"

उसने फुर्ती से गिलास की शराव मुँह में उँडेली और उठ खड़ा हुआ। तश्तरियों और जूठे बचे पुडिंग को इधर-उधर सरकाकर मेज पर जगह बनायी। मोमजामे को अच्छी तरह झाड़-पोंछकर चारपाई के पास वाली मेज की दराज से एक चारखाने का कागज निकाला, फिर एक लिफाफा, काठ का लाल होल्डर और लाल स्याही भरी चौकोर दवात लाकर रखी। लड़की का नाम सुनते ही मैं समझ गया कि 'मूर' (हब्शी) जाति की है।

विना ज़्यादा माथा-पच्ची किये जल्दी-जल्दी खत घसीट डाला। हाँ, यह जरूर चाहता था कि रेमण्ड को तसल्ली हो जाये, आखिर उसकी मंशा पूरी न करने का कोई कारण भी नहीं था। लिख चुका, तो पढ़कर सुनाया। वह सिगरेट के कश लगाते हुए जव-तव सहमतिसूचक सिर हिलाता हुआ सुनता रहा। फिर वोला, "ज़रा फिर से एक वार और पढ़ दीजिए।" लगा, वहुत खुश हो गया है। बत्तीसी दिखाकर हँसा, "अव वनी न वात! मैं तो यार, पहले ही जानता था कि आदमी शक्ल से ही अक्लमन्द लगते हो, तुम तो सव जानते हो—पूरे घाघ हो।"

इस 'यार' शव्द पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था, लेकिन जव उसने कन्धे पर हाथ मारकर कहा, "तो अव हम लोग दोस्त हो गये न?" तव मुझे याद आया कि उसने 'यार' कहा था। इस पर भी मैं जव चुप रहा तो उसने अपनी बात फिर दुहरायी। यों दोस्त हों, न हों मेरे लिए क्या फर्क पड़ना था। लेकिन उसके उतावलेपन को देखकर सिर हिलाकर मान लिया—"हाँ भाई, हैं।"

पत्र लिफाफे में वन्द किया और दोनों ने मिलकर बाकी शराव खत्म

कर डाली। इसके वाद गुमसुम बैठे दोनों सिगरेट फूँकते रहे। सड़क पर एकदम सन्नाटा था; वस, जव-तब कोई कार गुजर जाती थी। आखिर मैंने ही कहा कि अव काफी रात हो गयी है। रेमण्ड ने भी स्वीकार करके कहा, "आज तो रात जाती पता ही नहीं चली···" उसकी वात सही थी। मन हो रहा था कि सीधा विस्तर पर जा पड़ूँ, लेकिन चलकर वहाँ तक जाना पहाड़ लग रहा था। जरूर मेरे चेहरे से वड़ी पस्ती और थकान जाहिर हो रही होगी, क्योंकि रेमण्ड बोला, "मुसीवत में यों हिम्मत नहीं हारनी चाहिए।" पहले तो आशय मेरी समझ में नहीं आया, पर वह खुद ही वोला, "तुम्हारी माँ के देहान्त की खबर सुनी थी। खैर भाई, यह तो एक न एक दिन होता ही है सभी के साथ।" उसके इस कथन से मुझे सुख मिला। उससे मैंने कह भी दिया।

खड़ा हुआ, तो रेमण्ड ने वड़े आत्मीय-भाव से हाथ मिलाया। कहा, पुरुष हमेशा एक-दूसरे के मन को समझते हैं। बाहर निकलकर मैंने उसके कमरे का दरवाजा भेड़ा और कुछ देर सीढ़ियों के सामने यों ही अनिश्चित-सा खड़ा रहा। सारी विल्डिंग में कब्र-जैसा सन्नाटा छाया था। ज़ीने के तले से वड़ी सीली और गाढ़ी-गाढ़ी सी गन्ध निकलकर ऊपर आ रही थी। मुझे अपनी नसों में वजते खून के सिवा कुछ भी नहीं सुनायी दे रहा था। कुछ देर खड़ा-खड़ा उसे ही सुनता रहा। तभी सलामानो के कमरे में कुत्ते ने कराहना शुरू कर दिया; और उसकी यह हल्की-सी दुख-भरी कराह निद्रा-स्तब्ध घर को भेदकर यों उभरने लगी, मानो अँधेरे और सन्नाटे का जाल तोड़कर कोई फूल धीरे-धीरे सिर उठा रहा हो···।

चार

सारे हफ्ते दफ्तर में सिर उठाने की फुर्सत नहीं मिली। रेमण्ड एक बार आकर बता गया कि उसने पत्र डाल दिया है। इमानुएल के साथ मैं दो वार

सिनेमा भी हो आया। सामने पर्दे पर क्या-क्या हो रहा है, यह पूरी तरह उसके पल्ले ही नहीं पड़ता, इसलिए हमेशा पूछता रहता है।

कल शनिवार था। पूर्व-निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार मेरी आ गयी; लाल-सफ़ेद धारियोंवाले सुन्दर कपड़े, पाँव में चमड़े के सैण्डिल! मेरी तो उस पर से आँखें ही नहीं हटती थीं। छोटी-छोटी पुष्ट छातियों का उभार अलग ही दिखायी दे रहा था। धूप-सिका चेहरा बादामी रंग के मखमली गेंदा-फूल-सा लगता था। बस से हम लोग अलजीयर्स से कुछ मील दूर एक परिचित समुद्र-तट पर जा पहुँचे। यहाँ दो उभरी हुई नोकदार चट्टानों के बीच रेत केवल एक पट्टी की शक्ल में फैली है। ज्वार के समय पानी जहाँ तक आ जाता है, उस धारी के किनारे-किनारे पीछे दूर तक झाऊ के पेड़ों की कतार चली गयी है। चार बजे के करीब धूप तो ऐसी तेज़ नहीं थी; हाँ, पानी जरूर सुहाता-गुनगुना था। छोटी-छोटी लहरियाँ अलमस्त भाव से रेत पर अठखेलियाँ कर रही थीं।

मेरी ने मुझे एक नया खेल सिखाया—पहले तैरते-तैरते लहरों के उछाले हुए झाग को मुँह में खूब भर लो और जब झाग मुँह में खूब भर जायें तो चित लेटकर आसमान की ओर फुहारे की तरह फेंको। इससे झागों का एक धुन्ध-सा बन जाता है। यह धुन्ध या तो ऊपर ही हवा में घुल जाता है या गुनगुनी फुहार की तरह वापस गालों पर आ गिरता है। लेकिन इस खेल में जब नमक मुँह में गया, तो शीघ्र ही मुँह चिरपिराने लगा। तभी मेरी ने आकर पानी के भीतर ही मुझे कसकर बाँहों में भर लिया और अपने होंठ मेरे होंठों पर दबाये रही। उसकी जीभ से मेरे होंठों की जलन शान्त हुई। दो-एक पल के लिए हमने अपने को लहरों के हाथों में सौंप दिया—जिधर भी बहा ले जायें। फिर तैरते हुए वापस किनारे पर आ गये।

हमने कपड़े पहन लिये तो देखा मेरी टकटकी बाँधे मेरी ओर देखे जा रही है। उसकी आँखों में तारे झिलमिला उठे हैं। मैंने दोनों बाँहों में भर-कर उसे चूम लिया। इसके बाद कुछ देर हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। एक-दूसरे से होड़ लगाकर, फिर हम, गिरते-पड़ते सामने के ऊँचे कगारे की ओर दौड़ पड़े। सारे समय मैं उसे बगल में ही भींचे रहा। दोनों

को लगी थी कि जल्दी से जल्दी बस लें, कमरे में आयें और सीधे बिस्तर में जा घुसें। जाते समय मैं कमरे की खिड़की खुली छोड़ गया था, सो रात को बह-बहकर आती शीतल-मन्द समीर हमारे धूप-जले शरीरों को बड़ी सुहानी लग रही थी।

मेरी ने बताया कि अगले दिन भी उसे कोई काम नहीं है। मैंने कहा, 'तब कल मेरे साथ ही दोपहर को भोजन क्यों नहीं करतीं?" उसने हामी भर ली। मैं गोश्त खरीदने नीचे गया। लौटते हुए सुना, रेमण्ड के कमरे से किसी औरत के बोलने की आवाज़ आ रही है। कुछ देर बाद, दूसरी तरफ बूढ़े सलामानो ने अपने कुत्ते का रोना शुरू कर दिया। शीघ्र ही सीढ़ियों पर पंजों और जूतों की थप-थप सुनायी दी। फिर वही, "गन्दे कुत्ते, साले, आगे बढ़।" इसके बाद दोनों सड़क पर उतर गये। मेरी को मैंने इस बुड्ढे की आदतों के बारे में बताया तो खिलखिलाकर हँसने लगी। उसने मेरा पाजामा-कमीज ही पहन रखा था। आस्तीनें ऊपर चढ़ा ली थीं। उसको हँसता देखकर मन हुआ कि यह यों ही हँसती रहे। पल-भर बाद उसने पूछा, "तुम मुझे प्यार करते हो न?" मैंने जवाब में कहा कि असल में इस तरह के सवाल का कोई अर्थ ही नहीं है। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, मैं उससे प्यार-व्यार नहीं करता। सुनकर वह जरा दुखी-सी दिखायी दी, लेकिन जब खाना तैयार हो गया तो फिर चहक उठी। बात-बात पर हँसने लगी। जब-जब वह यों हँसती है, मेरा मन होता है उसे चूम लूं। ठीक उसी क्षण की ही बात है कि रेमण्ड के कमरे से कोलाहल, चीख-पुकार शुरू हो गयी।

पहले सुना कि कोई औरत खूब ऊँची और चिचियाती आवाज में कुछ कह रही है। फिर रेमण्ड की दहाड़ सुनायी दी, "तूने मेरे साथ दगा किया—कुतिया, कमीनी! आज बताऊँगा कि मेरे साथ दगा करने से क्या होता है?" धप्-धप् पीटने की आवाज़! फिर हृदय-वेधी चीखें कि सुनकर तन-मन रोमांचित हो उठे। देखते-देखते सीढ़ी पर लोगों का जमघट लग गया। मेरी और मैं भी बाहर निकल आये। औरत अभी तक चीख-चिल्ला रही थी और रेमण्ड लात-घूंसों से उसे अन्धाधुन्ध पीटे चला जा रहा था। मेरी बोली, "उफ़, कैसी बेहूदगी है?" मैं कुछ भी नहीं बोला। इसके बाद मेरी

बोली, "जाकर किसी सिपाही को बुला लाओ।" मैंने कहा, "मुझे सिपाही-विपाही से क्या लेना-देना।" खैर, देखते-देखते एक सिपाही भी आ-हाजिर हुआ। दूसरे तल्ले का एक नल-मिस्त्री उसके साथ-साथ आया। जैसे ही सिपाही ने धड़ा-धड़ किवाड़ों पर घूँसे मारे कि भीतर की आवाजें बन्द हो गयीं। उसने फिर दरवाज़ा खटखटाया। पल-भर बाद औरत ने भीतर से फिर रोना शुरू कर दिया। रेमण्ड ने दरवाज़ा खोला। उसके निचले होंठ पर टिकी सिगरेट थर-थर झूल रही थी और चेहरे पर रोनी-सी मुस्कुराहट थी। "तुम्हारा नाम ?" रेमण्ड ने नाम बता दिया। सिपाही ने कठोर गैर-मुलाहिज़ा स्वर में कहा, "मुझसे बात करते वक्त सिगरेट मुँह से निकाल लो।" रेमण्ड थोड़ा सकपकाया, लेकिन मेरी ओर देखकर सिगरेट मुँह में ही लगाये रहा। सिपाही ने लपककर हाथ घुमाया और फटाक् से उसके बायें गाल पर एक करारा तमाचा जड़ दिया। होंठों से छूटकर सिगरेट कई गज दूर जा गिरी। चोट से रेमण्ड का चेहरा ऐंठा, लेकिन एक क्षण वह मुँह से कुछ नहीं बोला। फिर बड़े ही मुलायम लहजे में पूछा, "अब सिगरेट का बचा हिस्सा उठा लूँ न ?"

"उठा लो," सिपाही ने कहा, "लेकिन आगे से याद रखना, हम बदत-मीजी बर्दाश्त नहीं करते, फिर तुम जैसे हब्शियों की तो किसी भी हालत में नहीं करते।"

इस सारे समय लड़की रोती-सिसकती और बार-बार एक ही बात कहती रही—"इस मर्दुए ने मुझे मारा···दलाल कहीं का···"

रेमण्ड ने बीच में ही पूछा, "माफ कीजिए जमादार साहब, इतने चश्म-दीद गवाहों के सामने किसी भले आदमी को दलाल कहना किस कानून में आता है ?"

सिपाही बोला, "अपनी चालाकी बन्द करो।"

इस पर रेमण्ड ने लड़की की तरफ पलटकर कहा, "फिक्र मत करो जाने-मन, हम लोग फिर मिलेंगे !"

"बस, बस," सिपाही घुड़का और लड़की से बोला, "चलो, भागो यहाँ से।" और रेमण्ड से कहा, "थाने से जब तक बुलावा न आये, तुम अपने कमरे से बाहर नहीं निकलोगे। जरा तो शर्म करो। नशे में ऐसे धुत्त हो रहे

हो कि सीधा खड़ा तक नहीं हुआ जाता। ये तुम्हारा सारा शरीर काँप किसलिए रहा है ?"

"धुत्त नहीं हूँ, जमादार साहब!" रेमण्ड ने बताया, "मैं तो जब-जब आपको यों खड़े होकर अपनी तरफ घूरते हुए देखता हूँ तो खुद-ब-खुद कँपकँपी चढ़ जाती है। अच्छा, झूठ कह रहा हूँ क्या ?"

फटाक् से उसने दरवाजा बन्द कर लिया तो हम सब लोग चले आये। मैंने और मेरी ने मिलकर खाना बनाया। मगर उसे भूख नहीं थी; करीब-करीब सारा मुझे ही खाना पड़ा। एक बजे वह चली गयी तो मैंने एक झपकी ले डाली।

तीन के करीब दरवाजे पर खट-खट हुई और रेमण्ड भीतर आया। चुपचाप पाटी पर आकर बैठ गया। एक मिनट हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। फिर मैंने पूछा, कैसा रहा ? उसने बताया कि शुरू में तो सारा काम योजना के अनुरूप ही होता चला गया; लेकिन जिस समय लड़की ने रेमण्ड के मुँह पर तमाचा जड़ दिया और उसने खून देखा तो वह आपे से बाहर हो उठा और पलटकर उसकी धुनायी शुरू कर दी। बाद में जो कुछ हुआ, उसे बताने की जरूरत ही नहीं। मैं खुद था वहाँ।

"चलो, तुमने उसे अच्छा सबक सिखा दिया। क्यों, यही तो तुम्हारी ख्वाहिश थी न ?"

"हाँ, यह तो है।" वह मान गया; बोला, "अब पुलिस, जो मन हो सो करती रहे। उसे अपने किये की सज़ा मिल गयी! और रही पुलिस, सो उससे भुगतने का गुर रेमण्ड जानता है। लेकिन जानना वह यह चाहता है कि जब सिपाही ने उसे मारा, तब क्या मैं चाहता था कि वह भी पलट-कर उसे मारे ?

मैंने कहा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता था। सच तो यह है कि पुलिस-वुलिस से कभी मेरा वास्ता नहीं पड़ा। इस बात से रेमण्ड खुश हो गया और बोला, "उठो, जरा टहल आयें।" मैं बिस्तर छोड़कर बाल सँवारने लगा। अब रेमण्ड ने कहा, "तुमसे तो बस, मैं इतना चाहता हूँ कि मेरी गवाही दे दो।" मैंने कहा कि मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। पर मुझे यह भी तो पता चले कि वहाँ कहना क्या होगा ?

"अरे, कहना-कहाना क्या है !" उसने जवाब दिया, "तुम तो बस यह बता देना कि लड़की ने वाकई मेरे साथ दगा की है।"

मैं गवाह बनने को राज़ी हो गया।

हम लोग साथ-साथ बाहर निकले। रेमण्ड ने एक कॉफ़े में ले जाकर मुझे एक पेग ब्राण्डी पिलायी। फिर हम लोग बिलियर्ड की एक बाजी खेले। बाजी बड़ी कड़ी थी—मैं थोड़े-से नम्बरों से जीतते-जीतते रह गया। अब उसने किसी चकले में चलने का प्रस्ताव किया, लेकिन मैंने मना कर दिया। मेरा मन नहीं था। धीरे-धीरे चहलकदमी करते हुए जब हम लौटे तो वह बताने लगा कि अपनी 'महबूबा' से जी भरकर बदला चुकाकर उसे कितनी खुशी हो रही है। वह तरह-तरह की बातें करके मेरा मन बहलाये रहा। इस टहलने में मुझे भी मज़ा आया।

घर के पास पहुँचते ही, ड्योढ़ी पर सलामानो दीखा। बेहद बौखलाया लगता था। ध्यान आया कि साथ में कुत्ता नहीं है। चारों ओर घूम-घूमकर देखता हुआ सलामानो फिरकी की तरह घूम रहा था। कभी अपनी छोटी-छोटी सुर्ख आँखें अँधेरे में गड़ाकर वहाँ कुछ तलाश करता, फिर आप ही आप कुछ बुड़बुड़ाता और सड़क पर कभी इधर और कभी उधर देखने लगता।

रेमण्ड ने पूछा, "क्या हो गया ?" तो जवाब में एकदम कुछ नहीं बोला। फिर सुना, सूअर-जैसी घुर्र-घुर्र आवाज में कह रहा था, "दोगला, साला, लेंडी, कुत्ता···।" मैंने पूछा, "कुत्ता कहाँ चला गया ?" इस पर पहले तो उसने भौंहें तानकर मुझे देखा, फिर फटाक् से बोला, "जहन्नुम में !" कुछ क्षण बाद अचानक उसने कुत्ते का पुराण शुरू कर दिया—

"अरे, जैसे और दिन ले जाता था आज भी परेड-ग्राउण्ड ले गया था। वहाँ कोई मेला था सो तिल धरने की जगह नहीं थी। मैं एक छोलदारी के सामने खड़ा होकर 'हथकड़ी-बादशाह' का तमाशा देखने लगा। चलने के लिए मुड़ा तो देखा, कुत्ता नहीं है। रोज सोचता था कि छोटा पट्टा लाऊँगा, लेकिन यह तो सपने में भी खयाल नहीं था कि साला जंगली इसमें से यों सिर सरकाकर नौ-दो-ग्यारह हो जायेगा।"

रेमण्ड ने दिलासा दिया कि कुत्ता अपने-आप घर तलाश करता-करता

आ जायेगा। फिक्र की कोई बात नहीं। उसने ऐसे अनेक कुत्तों के किस्से सुना डाले जो मीलों का रास्ता तय करके मालिक के पास लौट आये थे। लेकिन लगा, इससे बुड्ढे की परेशानी दुगुनी हो गयी है।

"अच्छा, ऐसा तो नहीं होगा कि लोग उसे मार-मूर डालें—मेरा मतलब पुलिस-वुलिसवाले? उसकी खाज देखकर हर कोई भागता है, इसलिए यह भी नहीं कि कोई उसे अपने यहाँ रखकर ही पाल ले।"

मैंने बताया, "थाने के पास ही एक मवेशीखाना है। खोये हुए या लावारिस कुत्ते यहीं रखे जाते हैं। आया कुत्ता जरूर वहीं होगा। थोड़ा-बहुत जुरमाना दे-दिलाकर वापस मिल जायेगा।" उसने पूछा, "अन्दाजन कितना ले लेंगे?" इसका मुझे ज्ञान नहीं था। इसके बाद वह फिर गुस्से से भनभना उठा—

"मैं और उस साले कुत्ते पर पैसा खर्च करूँ? उसकी ऐसी की तैसी! मार डालें उसे, मेरी बला से!" और उसने कुत्ते को अपनी कण्ठस्थ गालियाँ सुनानी शुरू कर दीं।

रेमण्ड ठठाकर हँसा और हॉल में आ गया। मैं उसके पीछे-पीछे जीना चढ़ने लगा। ऊपर हम लोगों ने विदा ली। एक-दो मिनट बाद ही फिर सलामानो के पैरों की आहट सुनायी दी, साथ ही मेरा दरवाजा खटका।

मैंने दरवाजा खोल दिया। वह कुछ देर ठिठका खड़ा रहा और फिर बोला, "माफ करना···तुम्हारे काम में हरजा तो नहीं होगा न?"

मैंने उसे भीतर बुलाया तो सिर हिलाकर इनकार कर दिया, निगाहें जूतों के पंजों पर लगी थीं और गाँठ-गठीले जर्जर हाथ थर-थर काँप रहे थे। बिना आँख से आँख मिलाये उसने कहना शुरू किया—

"क्यों मोशिये म्योरसोल, पुलिसवाले उसे मुझसे इस तरह छीन लेंगे क्या? नहीं छीनेंगे न?···नहीं···नहीं, ऐसा काम नहीं करेंगे वे लोग ···मगर···मगर मान लीजिए उन्होंने कुछ कर-करा दिया तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा···।"

मैंने बताया, जहाँ तक मेरी जानकारी है मवेशीखाने में लावारिस या खोये कुत्तों के लिए तीन दिनों तक मालिक के आने की राह देखी जाती है। इसके बाद जैसा ठीक समझते हैं, करते हैं।

वह आँखें फाड़े मुझे देखता रहा; मुँह से एक शब्द नहीं निकला। फिर 'नमस्कार' कहकर चला गया। बाद में काफी देर तक कमरे में उसके इधर से उधर घूमने की आहट आती रही। दीवारों के उस ओर से हल्की-हल्की सूँ-सूँ की आवाज आयी तो मैंने अन्दाज लगाया कि बुड्ढा रो रहा है। तब न जाने क्यों···मेरे मन में माँ की बातें उभर-उभरकर आने लगीं। अगले दिन तड़के ही उठना था। भूख बिल्कुल नहीं थी, इसलिए बिना खाये-पीये ही सीधा बिस्तर पर जा पड़ा।

पाँच

रेमण्ड ने मुझे दफ्तर में फोन किया। कहा, एक बार जिस दोस्त के बारे में उसने मुझे बताया था, उसने मुझे अगले रविवार की छुट्टी साथ बिताने का निमन्त्रण दिया है। अलजीयर्स नगर से बाहर ही सागर-तट पर उसका छोटा-सा अपना बँगला है। मैं बोला कि निमन्त्रण स्वीकार कर लेने में मुझे तो बड़ी खुशी होती; लेकिन दिक्कत सिर्फ यही है कि यह रविवार तो किसी लड़की के साथ बिताने का वचन दे चुका हूँ। तपाक से रेमण्ड ने कहा, "तो वह भी आ जाये। दोस्त की पत्नी को तो एक तरह से इससे बड़ी खुशी ही होगी। इतने पुरुषों के दल में वे एकदम अकेली नहीं रहेंगी।"

अपने घरेलू कामों के लिए दफ्तर का फोन इस्तेमाल किया जाये, यह मेरे साहब को पसन्द नहीं है। इसलिए मैं जितनी जल्दी हो सके फोन छोड़ देना चाहता था। लेकिन रेमण्ड ने कहा, "लाइन मत काटना।" फोन उसने किया ही इसलिए था कि उसे कुछ और भी कहना है। इस निमन्त्रण की तो कोई ऐसी बात नहीं, वह सन्ध्या को भी बता देता।

"बात यह है कि" वह कहने लगा, "कुछ अरब सुबह से मेरा पीछा कर रहे हैं। जिस लड़की से झगड़ा हुआ था न, एक तो उसका भाई ही है।

घर लौटते वक्त अगर आस-पास कहीं चक्कर काटता दीखे तो मुझे इशारा कर देना।"

मैंने कहा, "जरूर···जरूर।"

उसी समय साहब का बुलावा आ गया। पलभर को तो मैं सकपका गया; अब कहेंगे कि अपना काम करो, यों फोन पर दोस्तों से गप्पें लड़ाने में वक्त बरबाद मत करो। मगर शुक्र है, ऐसा कुछ नहीं निकला। उनके दिमाग में कोई योजना थी; उसी पर बातचीत करना चाहते थे। अभी तक खुद कुछ नहीं तय कर पाये थे। बात थी पैरिस में कम्पनी की एक शाखा खोलने की, ताकि पत्र-व्यवहार में वक्त न बरबाद करके बड़ी-बड़ी कम्पनियों का काम वहीं का वहीं किया जा सके। साहब जानना चाहते थे कि मैं वहाँ जाना चाहूँगा या नहीं?

साहब बोले, "तुम नौजवान आदमी हो। मुझे पता है, पैरिस में जाकर मजे लूटने को तुम्हारा भी दिल करता होगा। और हाँ, साल के कुछ महीनों में फ्रांस में इधर-उधर भी घूम-घाम लोगे।"

मैंने कह दिया कि अगर वे कहते हैं। तो चला जाऊँगा। यों यहाँ रहूँ या वहाँ, मेरे लिए बात एक ही है।

उन्होंने फिर सवाल किया, "तुम्हारी इच्छा नहीं होती कि जिन्दगी के रवैये में कुछ नया आये, पुराना छूटे?"

मैं बोला, "साहब, अपनी असली जिन्दगी को क्या कभी कोई बदल पाया है? जैसा एक ढर्रा, वैसा ही दूसरा। जिन्दगी का अब जो रवैया या ढर्रा है, मुझे तो उससे भी कोई शिकायत नहीं है।'

लगा, मेरी बातों से उन्हें दुख हुआ। बताते रहे कि मैं हर काम में हमेशा टाल-मटोल करता हूँ, कि मुझमें महत्त्वाकांक्षा नहीं है; और साहब के विचार से व्यवसाय में रहनेवाले आदमी में महत्त्वाकांक्षा का न होना जबरदस्त कमजोरी है।

मैं वापस अपनी मेज पर आ बैठा। सोचा, छोड़ो कौन बहस करे। इससे उनका मिजाज ही बिगड़ेगा। लेकिन अपनी जिन्दगी का रवैया बदलने की मुझे कोई वजह ही दिखायी नहीं देती थी। बुरी-भली, जैसी भी है, ठीक ही है। जिस 'महत्त्वाकांक्षा' की बात वे कहते थे, अपने विद्यार्थी-

जीवन में वह मुझसे भरी पड़ी थीं। लेकिन पढ़ाई-लिखाई छोड़ने के साथ ही यह भी समझ में आ गया कि यह सब कोरी बकवास है।

उसी साँझ की बात है—मेरी ने आकर पूछा, "मुझसे शादी करोगे ?"

मैंने कहा कि मुझे कुछ नहीं है, अगर वह इतनी ही उत्सुक है तो हम लोग शादी कर डालेंगे।

इसके बाद उसने सवाल किया, "मुझे प्यार करते हो ?" जो जवाब मैंने पहले दिया था, वही इस बार दे दिया, कि "पूछना ही बेकार है। कम से कम इस तरह के सवाल का कोई अर्थ नहीं है। फिर भी लगता है, मेरे मन में तुम्हारे लिए प्यार-व्यार कुछ नहीं है।"

उसने पूछा, "अगर ऐसा ही है तो शादी किसलिए करोगे ?"

मैंने उसे समझाया कि "वास्तव में इससे क्या आता-जाता है ? हाँ, अगर शादी करने से तुम्हें सुख मिलता हो, तो चलो, अभी इसी दम किये लेते हैं। बहरहाल, बात तुम्हीं ने चलायी थी—मैं तो सिर्फ हाँ करने का गुनहगार हूँ।"

इस पर वह बताने लगी कि शादी का मामला गम्भीर होता है। बच्चों का खेल नहीं है। मैं बोला, "नहीं, ऐसी बात तो नहीं है।"

पहले तो वह कुछ विचित्र ढंग से मुझे घूरती रही, फिर चुप हो गयी। कुछ देर बाद पूछने लगी, "अच्छा मान लो, मेरी जगह कोई दूसरी लड़की होती और जितना कुछ तुम मुझे चाहते हो, उतना ही उसे चाहते और वह जब शादी करने को कहती तो तुम क्या उससे भी यों ही, हाँ कह देते ?"

"बेशक !"

अब वह बोली, "मैं भी अभी तक इस धर्म-संकट में हूँ कि तुम्हें प्यार भी करती हूँ या नहीं।" इस बारे में मैं उसे बता ही क्या सकता था ? बाद में कुछ देर सन्नाटा रहा। इस बीच वह मुँह ही मुँह में मेरे "अजीब आदमी" होने को लेकर कुछ कहती रही। "सच बताऊँ तुम्हारी इन्हीं बातों पर तो मैं तुम्हारे प्यार करती हूँ। वह बोली, "हाँ, हो सकता है किसी दिन, इसीलिए, घृणा भी इन्हीं बातों पर करने लगूँ।"

इस पर भी मैं क्या कहता ? खामोश ही रहा !

कुछ देर वह विचारों में खोयी रही और फिर उसके चेहरे पर मुस्कराहट आ गयी। मेरी बाँह पकड़कर फिर दुहराया, "मैं तुमसे अपने दिल की बात कहती हूँ—सचमुच तुमसे शादी करना चाहती हूँ।"

मैं बोला, "अच्छी बात है! जब चाहो, हम लोग शादी कर डालेंगे। ऐसी कोई बात नहीं है।" फिर जब मैंने अपने साहबवाले प्रस्ताव का ज़िक्र किया तो ललककर बोली, "पैरिस जाने को तो मेरा भी बड़ा मन है।"

इस पर जब मैंने बताया कि मैं कुछ समय पैरिस में रहा हूँ, तो पूछने लगी कि पैरिस शहर कैसा है।

"मुझे तो बड़ा घिच-पिच और बेजान-सा शहर लगता है। कबूतरों के झुण्ड, अँधेरे घुटे-घुटे चौक और आँगन! निचुड़े हुए लोग! फीके-फीके चेहरे···।"

फिर हम लोग बाहर घूमने निकल आये। मुख्य सड़कों से होते हुए शहर के दूसरे सिरे तक चले गये। औरतें बड़ी खूबसूरत दिखायी देती थीं। मैंने मेरी से पूछा कि उसे भी लगीं या नहीं; बोली, "हाँ, तुम जिस मतलब से पूछ रहे हो वह मुझे पता है।" इसके बाद हममें से कोई कुछ नहीं बोला। लेकिन मैं उसे अभी नहीं जाने देना चाहता था, इसलिए प्रस्ताव रखा कि चलकर सेलेस्ते के रेस्त्राँ में साथ खाना खाया जाये। वह कहने लगी, "तुम्हारे साथ खाने में मुझे सचमुच बड़ा अच्छा लगता, लेकिन आज मैंने किसी और के साथ कह रखा है।" अब हम लोग घर के पास आ गये थे। मैंने कहा, "अच्छी बात है। तब फिर मिलेंगे···।"

वह मेरी आँखों में आँखें डाले देखती रही।

"यह भी नहीं जानना चाहते कि आज रात मुझे क्या काम है?"

जानना तो जरूर चाहता था, लेकिन उससे पूछने की बात ही नहीं सुझी। लगा, जैसे वह मेरी इस बात की शिकायत कर रही हो। उसकी इस बात से मैं जरूर सकपका उठा हूँगा, क्योंकि मेरी खिलखिलाकर हँस पड़ी और मेरी ओर झुककर अपने चुम्बनोत्सुक होंठ मेरी ओर कर दिये।

अकेला ही मैं सेलेस्ते रेस्त्रा में आया। अभी खाना शुरू ही किया था कि

एक ठिगनी-सी औरत ने आकर पूछा, "आपकी मेज पर बैठ सकती हूँ न ?"
"जरूर···जरूर," मैंने कहा। औरत देखने में कुछ विलक्षण ही थी—पके सेब-सा फूला-फूला चेहरा, चमकती आँखें और कुछ अजब ढंग से झटका देती हुई-सी चाल, मानो तार पर चल रही हो। अपनी तंग जाकेट उतारकर वह कुर्सी पर जम गयी और एकदम सबकुछ भूल-भालकर खाने की सूची का गौर से अध्ययन करने लगी। फिर सेलेस्ते को बुलाकर अपना आर्डर दिया। बोलती बड़ी तेजी से थी लेकिन एक-एक शब्द स्पष्ट। सुननेवाला एक शब्द नहीं चूकता था। जब तक खाने का परोसना शुरू हो, उसने अपना बैग खोला, कागज का टुकड़ा और पेंसिल निकाली और बिल के सारे पैसे पहले ही जोड़ डाले। फिर बैग में हाथ डालकर बटुआ निकाला, बिल का पूरा दाम और ऊपर से कुछ बख्शीश के पैसे निकालकर सामने मेज़पोश पर रख लिये।

तभी बैरे ने कोर्स के हिसाब से पहली चीज़ लाकर सामने रखी। औरत भूखे भेड़िये की तरह उस पर टूट पड़ी। अब जब तक अगली चीज़ आये, उसने इस बार बैग से दूसरी नीले रंग की पेंसिल और आनेवाले हफ्ते की रेडियो-पत्रिका निकाली और करीब-करीब दिन के हर कार्यक्रम के सामने पेंसिल से निशान लगाने शुरू कर दिये। पत्रिका कुल बारह पन्नों की थी। लेकिन सारे खाने के दौरान में वह एक-एक पृष्ठ को बड़े गौर से घोटती रही। मेरा खाना खत्म हो गया, लेकिन उसका, उसी अखण्ड ध्यान मुद्रा में कार्यक्रमों पर निशान लगाना जारी था। खाने के बाद वह उठी, अपने उसी झटकेवाले मशीनी अन्दाज से जाकेट पहनी और खुट-खुट करती फुरती से रेस्त्राँ से बाहर निकल गयी।

करने को कुछ नहीं था, इसलिए मैं कुछ दूर उसी के पीछे-पीछे चलता रहा। पटरी के किनारे-किनारे बिना इधर-उधर मुड़े या पीछे देखे वह नाक की सीध में चली जा रही थी। जिस तेजी के साथ वह फासला तय किये जा रही थी, वह उसके छोटे-से कद को देखते हुए निहायत नयी चीज़ लगती थी। सच पूछो तो उसका साथ बनाये रखना मेरे लिए टेढ़ी खीर हो गया और देखते-देखते वह आँखों से ओझल हो गयी। हारकर मैं घर की ओर लौट पड़ा। कुछ देर तक तो वह चाबी-भरी कठपुतली (कम

से कम मुझे वह ऐसी ही लगी) मुझे काफी प्रभावित करती रही, लेकिन शीघ्र ही बात आयी-गयी हो गयी।

जैसे ही मैं अपने दरवाज़े की ओर मुड़ा कि बूढ़े सलामानो से मुठभेड़ हो गयी। मैंने उससे भीतर कमरे में चलने का अनुरोध किया। उसने बताया, "कुत्ता निश्चय ही खो-खा गया। पता लगाने के लिए मैं मवेशी-खाने गया था; वहाँ तो था नहीं। वहाँ वालों ने तो यही कहा कि किसी गाड़ी-वाड़ी के नीचे आ गया लगता है। मैंने पूछा कि थाने में जाकर इस बात का पता लगाने से कुछ फायदा होगा? वे बोले, "कौन-सा लावारिस कुत्ता कहाँ कुचला, इस बात का लेखा-जोखा रखने से ज़्यादा ज़रूरी काम पुलिस के सामने है।" मैंने सलाह दी, "आप दूसरा कुत्ता ले आइए।" तो कहने लगा कि "मुझे इसी से मोह हो गया था। अब किसी दूसरे कुत्ते के साथ यह बात थोड़े ही हो सकती है…"

मैं अपनी टाँगें ऊपर समेटे खाट पर था और सलामानो मेरे सामने मेज के पासवाली कुर्सी पर घुटनों पर हाथ रखे बैठा था। घिसा-घिसाया-सा मुचड़ा फेल्ट हैट सिर पर विराजमान था। वह अपनी पीली-पीली गन्दी मूँछों की ओट में जाने क्या-क्या बुदर-बुदर बोले जा रहा था! मुझे उसकी उपस्थिति काफी उबानेवाली लगी, मगर न तो नींद आ रही थी और न ही कुछ करने को था, अतः कुछ न कुछ बातचीत चलाये रखने के लिए मैं कुत्ते के बारे में ही उल्टे-सीधे सवाल पूछता रहा—कितनों दिनों से कुत्ता उसके पास था, इत्यादि। बताया, बीवी के मरने के बाद से यह कुत्ता ही उसका साथी रह गया था। शादी काफी देर से की। जवानी के दिनों में नाटक में जाने की बड़ी इच्छा थी। अपनी फौजी नौकरी में भी रेजिमेण्ट के नाटकों में अक्सर ही भाग लिया। कहना तो सबका यही था कि काफी अच्छा काम कर लेता था। खैर, आखिर में रेलवे में नौकरी कर ली। अब उसे सबसे कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि बँधी-बँधायी, थोड़ी-बहुत पेंशन चली आती है। पत्नी के साथ कभी मन नहीं मिला, लेकिन हाँ, दोनों एक-दूसरे के हिसाब से ढल जरूर गये थे। उसके मरने के बाद बड़ा सूना-सूना भी लगा। रेलवे के एक साथी की कुतिया ने ठीक उन्हीं दिनों बच्चे दिये थे, उसी ने यह कुत्ता लाकर दे दिया। यही सोचकर रख लिया कि चलो, एक

साथ हो जायेगा। शुरू में तो बच्चों को दूध पिलानेवाली बोतल से खिलाना-पिलाना पड़ा। चूँकि कुत्ते की ज़िन्दगी आदमी से थोड़ी होती है इसलिए दोनों का बुढ़ापा साथ-साथ आया।

"बड़े झक्की स्वभाव का जानवर था!" सलामानो ने बताया, "अक्सर ही हम लोगों में बकायदा झगड़े हो जाते थे। मगर था कुत्ता अच्छा।"

मैंने भी कहा, "शक्ल से तो किसी अच्छी नस्ल का लगता था।" इस से बूढ़ा बहुत खुश हो गया। बोला, "अरे आपने कहीं इसे बीमारी से पहले देखा होता। क्या गजब के बाल थे! सच कहता हूँ उसमें कोई लाख रुपये की चीज थी तो वे थे उसके बाल। उसका रोग दूर करने के लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया! खाज होने के बाद तो मैंने रात-रातभर मल्हम की मालिश की है। मगर उसकी असली बीमारी तो बुढ़ापा थी और इस बीमारी का धरती पर कोई इलाज नहीं है।"

तभी मुझे जँभाई आ गयी। सलामानो ने कहा, "अब चलूँगा।" मैं बोला, "रुकिए न सच-मुच, आपके कुत्ते के लिए मुझे बड़ा अफसोस है।" इस पर मुझे धन्यवाद देकर बताने लगा कि मेरी 'बेचारी माँ' को भी उस कुत्ते से बड़ा प्रेम था। उसने शायद यही सोचकर मेरी माँ के आगे 'बेचारी' विशेषण लगाया था कि मुझे उसकी मृत्यु का बड़ा सदमा होगा, जब मैं कुछ नहीं बोला तो बड़ी जल्दी-जल्दी और हिचकिचाते हुए उसने बताया कि मेरे माँ को आश्रम में भेज देने पर सड़कवाले जाने क्या-क्या उलटा-सीधा कह रहे हैं। "लेकिन मुझसे तो कोई बात नहीं छिपी। मुझे तो पता है कि माँ के लिए हमेशा से तुम्हारे मन में कैसी श्रद्धा थी।"

मैं आज तक नहीं जानता कि उसकी इस बात के जवाब में मैंने क्यों ऐसा कहा था कि बड़ा ताज्जुब है मेरे बारे में लोग ऐसा बुरा सोचते हैं। माँ को साथ रख पाना मेरे बूते के बाहर की बात थी, इसलिए किसी न किसी आश्रम में भेज देने के सिवा कोई चारा नहीं था। कहा, "बहरलाल यहाँ भी वर्षों वे मुझसे एक शब्द नहीं बोलती थीं। मैं भी देखता था कि कोई बातचीत करनेवाला नहीं है, इसलिए सारे दिन झाड़ू-बुहारी ही

करती रहती हैं।"

"सही बात है," वह बोला, "आश्रम में तो अनेक यार-दोस्त भी बन जाते हैं।"

वह उठ खड़ा हुआ। कहने लगा, "बहुत वक्त हो गया। अब जाकर सोऊँगा।" फिर बताता रहा कि इस नयी हालत में तो जिन्दगी मुहाल हो जायेगी। सलामानो के साथ अपने परिचय में पहली बार मैंने उससे हाथ मिलाने के लिए आगे बढ़ाया। अब भी मन में बड़ी हिचक और हाथ बढ़ाने के ढंग में झेंप थी। मिलाते ही लगा जैसे उसकी खाल पर मछलियों की खाल जैसे खुरदरे पत्थर हैं। दरवाजे से बाहर निकलते-निकलते वह पलटा और हल्की मुस्कराहट से बोला—

"चलो, यह तो है कि आज रात कुत्ते नहीं भौंकेंगे। जब-जब मैं इनका भौंकना सुनता हूँ, मुझे हमेशा लगता है मानो मेरे कुत्ते का भौंकना सुनायी···।"

उस दिन रविवार था और सुबह जागना भी एक मुसीबत लग रही थी। मेरी ने मेरे कन्धे पकड़कर झकझोरे और नाम ले-लेकर जोर-जोर से पुकारा, तब कहीं जाकर मैं उठा। चाहते थे कि जितनी जल्दी हो सके, समुद्र के पानी में जा कूदें, इसलिए नाश्ते-वाश्ते की फिक्र छोड़ दी। सिर में हल्का-हल्का दर्द था। शायद इसलिए पहली सिगरेट का स्वाद भी कड़वा-कड़वा लगा। मेरी कहने लगी कि शक्ल से मैं गमी में स्यापा करनेवालों जैसा लगता हूँ। मैं खुद बड़ा टूटा-टूटा और ढीला महसूस कर रहा था। वह सफेद कपड़ों में थी। बाल खुले थे। मैंने कहा, "तुम तो इस वेश में खंजर चला रही हो!" सुनकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी।

निकलते हुए हमने रेमण्ड का दरवाजा जोर से खटखटाया। वह भीतर से ही चिल्लाकर बोला, "तुम लोग चलो। मैं बस अभी आया।" एक तो तबीयत यों ही ढीली थी, फिर ऊपर से हमने आज कमरे की चिकें डाल रखी थीं। सड़क पर आते ही सुबह की तेज धूप का चौंधा घूँसे की तरह आँखों पर पड़ा।

हाँ, मेरी खुशी से थिरक-थिरक उठती थी। रह-रहकर कहती जाती, 'कैसा सुहाना मौसम है?' कुछ देर बाद मेरी तबीयत भी ठीक हो गयी। लेकिन साथ ही लगा कि जोर से भूख लगी है। मेरी को बताया तो उसने मेरी बात पर कान ही नहीं दिया। उसके पास किरमिच का थैला था। इसमें हमने नहाने के जाँघिया-बनियान और तौलिया तहाकर रख लिये थे। तभी रेमण्ड के पीछे से दरवाजा खोलने की आवाज सुनायी दी। वह नीली पतलून, आधी बाँहों की सफेद कमीज और चटाई का हैट पहने था। मैंने देखा, उसकी बाँहों पर काफी बड़े-बड़े बाल हैं लेकिन नीचे खाल का रंग बड़ा गोरा है। चटाई के हैट को देखकर मेरी ही-ही करके हँसने लगी। मुझे खुद भी उसका यह हुलिया देखकर बड़ी कोफ्त हुई। मगर वह बड़ा खुश-खुश लगता था और सीटी बजाता हुआ सीढ़ियाँ उतर रहा था। मुझे देखकर स्वागत में बोला, "कहो यार!" मेरी की ओर देखकर बोला, "कहिए श्रीमतीजी···"

पिछली शाम मैं और रेमण्ड दोनों थाने गये। मैंने रेमण्ड की तरफ से गवाही दी कि लड़की ने उसके साथ धोखा किया है। पुलिसवालों ने मेरी गवाही की तसदीक भी नहीं की और फिर कभी ऐसी हरकत न करने की चेतावनी देकर उसे छोड़ दिया।

हम लोग कुछ देर दरवाजे की सीढ़ियों पर खड़े-खड़े सलाह करते रहे। तय पाया कि बस लेंगे। यों पैदल चलने के लिहाज से भी समुद्रतट ज्यादा दूर नहीं है, लेकिन सोचा, जितनी जल्दी पहुँचें उतना ही अच्छा है। बस-स्टाप की ओर बढ़ने को ही थे कि रेमण्ड ने मेरी आस्तीन खींचकर धीरे से कहा, "सड़क के उस पार देखो।" मैंने देखा, तम्बाकूवाले की खिड़की के सामने कुछ अरब चक्कर काट रहे हैं। ये लोग अपने खास अरबी अन्दाज से हमें इस तरह घूरे जा रहे थे मानो हम लोग बेजान-

पत्थर के ढोके या पेड़ हों। रेमण्ड ने फुसफुसाकर बताया कि बायीं तरफ से दूसरावाला अरब 'वही आदमी' है। रेमण्ड काफी परेशान दीखता था, मगर बताता फिर भी यही रहा कि उस बात को तो जाने कितने दिन गुजर गये हैं। मेरी की समझ में इसकी बातें नहीं आ रही थीं। उसने पूछा, "क्या मामला है ?"

मैंने बताया कि सड़क के उस ओर जो अरब खड़े हैं, उनकी रेमण्ड से अदावत है। वह फौरन ही वहाँ से चल पड़ने की जिद करने लगी। इस पर रेमण्ड ने हँसकर बेफिक्री से कन्धे झटके और बोला, "मेरी ठीक कहती है। यहाँ अटके रहने में आखिर तुक क्या है ?" बस-स्टाप के लिए आधा रास्ता पार कर लिया तो कनखियों से पीछे देखा। बोला, "नहीं, वे लोग पीछा नहीं कर रहे।" मैंने भी घूमकर देखा, वे लोग ज्यों के त्यों खड़े, अपनी सूनी-सूनी निगाहों से उस जगह को ताके जा रहे थे जहाँ अभी-अभी हम लोग खड़े थे।

बस में बैठ चुकने पर लगा, रेमण्ड ने सुख की साँस ली। मेरी को खुश करने के लिए उससे चुहल करता रहा। मैंने देखा कि मेरी उससे प्रभावित है। लेकिन वह मुश्किल से बोली एकाध शब्द ही। रह-रहकर उसकी आँखें मेरी आँखों से मिल जातीं तो हम दोनों मुस्करा पड़ते।

अल्जीरिया से बाहर ही हम लोग उतर पड़े। समुद्रतट बस-स्टाप से ज़्यादा दूर नहीं है। पठार-जैसी उभरी हुई जमीन का टुकड़ा पार करते ही सामने समुद्र है। यह पठार समुद्र के एकदम सिरे पर ऊपर ही जाकर खत्म होता है और फिर नीचे किनारे की रेती तक खड़ा ढलान है। पठार की जमीन पर पीली मिट्टी और जंगली नरगिस फैली है। इन बर्फ के गोले-जैसे सफेद-सफेद फूलों के फैलाव के पीछे नीला-नीला आसमान छाया दीखता है। जब दिन बहुत गर्म हो उठते हैं तो यह आसमान ठोस धातु की झलमलाहट-जैसा लगने लगता है; आज भी वैसा ही लग रहा था। मेरी हाथ के थैले को सर्र-सर्र फूलों में आगे-पीछे झुलाती, चारों ओर पंखुड़ियों की वर्षा करती, नाचती-किलकती चल रही थी। आगे जाकर हम लोग दोनों ओर बने छोटे-छोटे मकानों की कतारों के बीच से गुजरे। इन मकानों के बारजे काठ के बने थे और अहाते के कठघरे सफेद या हरे

पुते थे। कुछ मकान तो झाऊओं की वेडौल झाड़ियों के पीछे छिप-से गये थे। बाकी पथरीले पठार पर अकेले-से खड़े थे। इस सड़क के समाप्त होने से पहले ही समुद्र का विस्तार दिखायी देता था। शीशे की तरह चिकना सागर सामने फैला था। दूर सामने एक बड़ा-सा अन्तरीप आगे निकला नजर आता था। उसके चारों ओर पानी में नीचे चारों ओर उसकी साँवली परछाईं थी। शान्त हवा में कहीं से मोटर का इंजन चलने की हल्की-हल्की घरघराहट आ रही थी। देखा, बहुत दूर, उस चकाचौंध करते चिकने विस्तार को चीरती एक मछली-मार नाव बड़े बेमालूम-से ढंग से सरकती चली आ रही है।

मेरी ने कुछ पहाड़ी नरगिस के फूल चुन लिये। समुद्र-तट को उतरने वाली ढालू पगडण्डी से चलते हुए हमने देखा कि नहानेवाले पहले से रेत पर जमे हैं।

रेमण्ड के दोस्त का छोटा-सा बँगला एकदम तट के सिरे पर ही बना था। पिछवाड़े चट्टान थी और सामने का हिस्सा अधर में लट्ठे पर टिका था। नीचे लट्ठों से पानी थपेड़े मार रहा था। रेमण्ड ने दोस्त से परिचय कराया। दोस्त का नाम था, मैसन। लम्बा-तड़ंगा, चौड़े-चौड़े कन्धे और गठीला बदन। पत्नी मोटी लेकिन खुशमिजाज छोटी-सी महिला थी। उनकी बातचीत में पैरिस का लटका था।

मैसन ने तपाक से कहा कि उसे हम अपना ही घर समझें और कोई तकल्लुफ न करें। बताने लगा कि सुबह तड़के ही उठकर सबसे पहले जाकर मछलियाँ पकड़ लाया है, इसलिए आज का भोजन तली मछलियों का ही होगा। मैंने उसे उसके इस छोटे-से सुन्दर बँगले के लिए बधाई दी तो बोला कि शनि-रवि के अलावा और छुट्टियाँ भी वह यहीं बिताता है। हाँ, पत्नी भी उसके साथ ही होती है, कहीं हम लोग कुछ और न समझ लें। मैंने पत्नी की ओर देखा। मेरी की उसके साथ खूब घुट रही थी। दोनों हँस रही थीं, गप्पें लड़ा रही थीं। शायद इस सारे दौरान में अब पहली बार मैं मेरी के साथ शादी करने की बात को गम्भीरता से सोचने लगा।

मैसन की इच्छा थी कि फौरन चलकर सीधे समुद्र में तैरा जाये,

लेकिन पत्नी और रेमण्ड हिलने को ही तैयार नहीं हुए। इसलिए हम तीनों मैं, मेरी और मैसन ही समुद्र पर पहुँचे। जाते ही मेरी तो सीधी पानी में जा धँसी, लेकिन मैं और मैसन कुछ देर रुके। मैसन जरा हकलाकर बोलता था और वाक्यों के बीच-बीच में 'तो क्या कहा?' का तकिया-कलाम लगाता था, चाहे अगले वाक्य का पिछले वाक्य से कोई सम्बन्ध हो या न हो। मेरी के बारे में बताते हुए कहने लगा—"लड़की तो गजब की सुन्दर, तो क्या कहा, आकर्षक है!"

लेकिन मैंने जल्दी ही उसकी इस हरकत की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया और धूप सेंकने लगा। लगा, इससे मेरी तबीयत काफी ठीक हो गयी। पैरोंतले की रेत झुलसने लगी थी। मन होता था कि जल्दी से जल्दी पानी में कूद पड़ूँ, लेकिन एक-दो मिनट खड़ा रहा। आखिर मैसन से बोला, "तो अब घुसें?" और कहने के साथ ही पानी में कूद पड़ा। मैसन झपक्-झपक् पाँव-पाँव ही पानी में चलता चला आया—सिर से हाथ-भर ऊँचे पानी में आ गया तो तैरने लगा। वह एक-एक हाथ मारकर अलस-भाव से बढ़ रहा था, इसलिए उसका साथ छोड़कर मैंने मेरी को जा पकड़ा। ठण्डा-ठण्डा पानी मन को अजब ताजगी से भर रहा था। हम लोग साथ-ही-साथ अगल-बगल तैरते काफी आगे निकल आये। मेरे और उसके हाथों और पैरों का एक ही ताल-लय पर चलना, समान उत्साह से पल-पल जल-क्रीड़ा का आनन्द लेना हम दोनों को अजब-से उल्लास से भर रहा था।

खुले विस्तार में आकर दोनों चित लेट गये। मैं ऊपर आसमान की ओर एकटक देखता रहा और धूप से उछल-उछलकर आती खारे पानी की धारा मेरे गालों और होंठों को चूमती-सहलाती रही। हमने देखा, मैसन वापस जाकर रेत पर धूप में चारों खाने चित पड़ा है। दूर से वह काफी लम्बा-चौड़ा, अच्छी-खासी व्हेल मछली-जैसा दीखता था। मेरी ने सुझाया कि 'घोड़ा-गाड़ी' की तैराकी तैरी जाये। वह आगे हुई और पीछे से मैंने अपनी बाँहें उसकी कमर में लपेट लीं। हाथों के छपाके से वह मुझे आगे खींचने लगी और पीछे से पैर चला-चलाकर मैं उसकी मदद करने लगा।

हल्के-हल्के थपेड़ों की इतनी देर से कानों में गूँजती इस आवाज से, खेल से मेरा जी भरने लगा। मैंने मेरी को छोड़ दिया और खुद गहरी-गहरी साँस लेता इत्मीनान से तैरता पीछे लौट आया। किनारे पर आकर मैसन की बगल में रेत पर मुँह टिकाकर मैं भी पेट के वल लेट गया। उसे बताया, "वड़ा मजा आया।" वह वोला "जरूर आया होगा।" पीछे-पीछे मेरी भी लौट आयी। मैं सिर उठाकर उसे आते हुए देखने लगा। उसने बाल पीछे किये हुए थे और सागर का खारा-खारा पानी उसके शरीर पर बूंद-बूंद चमक रहा था। वह आकर एकदम मुझसे सटकर लेट गयी तो दोनों के शरीरों और धूप की गरमी से मुझे झपकी आने लगी।

कुछ देर बाद मेरी ने अपनी कुहनी से मेरी बाँह में टहोका मारकर कहा, "मैसन तो बँगले चला गया। लगता है खाने का समय हो गया।" भूख मुझे भी लग आयी थी, इसलिए झटपट उठ बैठा। तभी मेरी ने कहा, "आज तो सुवह से लेकर अभी तक तुमने मुझे चूमा ही नहीं।" बात सही थी; यों मन में मेरे कई बार आया था। वह बोली, "आओ फिर से पानी में चलें।" और हम दोनों पानी में दौड़कर तरंगों के बीच कुछ देर औंधे लेट रहे। कुछ हाथ और तैरकर जब सिर से ऊपर पानी में आ गये तो वह दोनों बाँह मेरे गले में डालकर लिपट गयी। उसकी टाँगें मेरी टाँगों से गुँथ गयीं और मेरा तन-मन सिहरकर रोमांचित हो आया।

जिस समय हम लोग लौटे, मैसन अपने बँगले की सीढ़ियों पर खड़ा-खड़ा हमें पुकार-पर-पुकार लगाये जा रहा था। मैं आते ही बोला, "मेरे पेट में तो भूख के मारे चूहे कूद रहे हैं।" इस पर वह तुरन्त पत्नी की ओर पलट-कर बोला, "मुझे तो यह आदमी पसन्द आया।" रोटियाँ गजब की थीं। मैंने खूब डटकर मछलियाँ उड़ायीं। अन्त में भुनी बोटियाँ और आलू की कतलियाँ आयीं। सब चुपचाप खाते रहे। मैसन ने एक के बाद एक गिलास शराब चढ़ायी। मेरा गिलास खाली भी नहीं हो पाता था कि वह फिर भर देता। कॉफी का दौर चलने तक तो मैं हल्का-हल्का झूमने लगा था, इसलिए अन्धाधुन्ध सिगरेटें फूंकनी शुरू कर दीं। रेमण्ड, मैसन और मैं, हम तीनों ने कार्यक्रम बनाया कि पूरा अगस्त का महीना यहाँ बिताया जाये और खर्चा आपस में बाँट लिया जाये।

अचानक मेरी बोल उठी, "मैंने कहा, आपको पता है अभी कितना समय हुआ है ? कुल साढ़े ग्यारह बजे हैं।"

सुनकर हम सभी को अपार आश्चर्य हुआ। मैसन बोला, "आज दोपहर का खाना बहुत जल्दी खा लिया। लेकिन खैर, दोपहर का खाना तो अपने हाथ की बात है, जब इच्छा हो खा लो—थोड़ा आगे हुआ या पीछे।"

न जाने क्यों इस बात पर मेरी ने हँसना शुरू कर दिया। शक है उसने ज्यादा चढ़ा ली थी।

मैसन ने पूछा कि क्या मैं उसके साथ किनारे पर घूमने जाना पसन्द करूँगा ? बोला, "ये तो हमेशा दोपहर के खाने के बाद एक नींद लेती हैं। मुझे यह माफिक नहीं आता। मुझे खाने के बाद थोड़ा टहलना ज़रूरी है। मैं तो हमेशा समझाता हूँ कि स्वास्थ्य के लिए यह ज़्यादा अच्छा है। पर भाई, इन्हें भी अपने मन-मुताबिक चलने का हक है।"

मेरी ने रुककर धोने-पोंछने के काम में सहायता की इच्छा प्रगट की। श्रीमती मैसन मुस्कराकर बोलीं, "अच्छी बात है। लेकिन पहले इन मर्द लोगों को यहाँ से टल जाने दो।" अतः हम तीनों साथ-साथ बाहर निकल आये।

धूप करीब-करीब खड़ी पड़ रही थी और पानी का चौंधा आँखों में चुभ रहा था। किनारे पर अब एकदम सन्नाटा था। किनारे के सामने बँगलों और झोंपड़ियों की लाइन चली गयी थी। उनमें से छुरी-काँटों के बजने की हल्की-हल्की झनझनाहट आ रही थी। चट्टानों से ऐसी भभक निकल रही थी कि साँस लेना मुश्किल लगता था।

पहले तो रेमण्ड और मैसन ऐसी-ऐसी चीजों और लोगों के बारे में बातें करते रहे जिनसे मैं परिचित नहीं था। हाँ, इतना जरूर जान गया कि दोनों काफी दिनों से एक-दूसरे को जानते हैं; दोनों ने कुछ समय साथ-साथ भी बिताया है। हम लोग उतरकर एकदम पानी को छूते हुए किनारे-किनारे चलने लगे।···रह-रहकर कोई भटकी लहर आकर हमारे किरमिच के जूते भिगो जाती। खुली धूप मेरे नंगे सिर पर पड़ रही थी

और दिमाग तन्द्रा से वोझिल था। इसलिए मैं कुछ भी नहीं सोच पा रहा था।

तभी रेमण्ड ने मैसन से कुछ कहा; मुझे स्पष्ट सुनायी नहीं दे पाया कि क्या कहा। हाँ, उसी समय मेरी निगाह नीली-नीली 'डंगरी' (कौपीन जैसा कपड़ा) पहने दोनों अरबों पर पड़ी। वे काफी दूर किनारे-किनारे हमारी ओर चले आ रहे थे। रेंण्मड को मैंने आँख से इशारा किया तो सिर हिलाकर वह बोला, "हाँ वही है।" लेकिन हम लोग जैसे चल रहे थे उसी तरह चलते रहे। मैसन ताज्जुव करने लगा कि इन कम्वख्तों ने हमारा सुराग कहाँ से पा लिया। मेरा खयाल है, इन्होंने हमें बस पकड़ते ही देख लिया था; मेरी के हाथ में किरमिच का नहानेवाला थैला भी था। लेकिन मैं मुँह से कुछ नहीं वोला।

अरब लोगों की चाल वहुत तेज नहीं थी, लेकिन अव वे हमारे काफी पास आ लिये थे। रेमण्ड वोला, "देखो, अगर कोई झगड़ा-टण्टा हो तो मैसन तुम दूसरे वाले को सँभालना। अपनेवाले को मैं समझ लूँगा। और म्योर-सोल, तुम मदद के लिए तैयार रहना। अगर कोई तीसरा आये तो उससे निपटना"

"अच्छी बात है," मैंने कहा। मैसन ने हाथ जेव में ठूँस लिये।

रेती आग जैसी तप रही थी। मुझे तो सिन्दूर जैसी दहकती लगी। हमारे और अरबों के वीच का फासला कुछ कदम ही रह गया तो वे दोनों रुक गये। मैंने और मैसन ने चाल धीमी कर दी। रेमण्ड सीधा अपने वाले अरब के सामने जा पहुँचा। उसने क्या कहा, यह तो सुनायी नहीं दिया, लेकिन देखा, अरव ने अपना सिर कुछ इस तरह झुकाया, मानो रेमण्ड की छाती पर प्रहार करनेवाला हो। मैसन को पुकारकर रेमण्ड चीते की तरह उस पर टूट पड़ा। उधर मैसन अपने शिकार पर झपटा और सारी ताकत के साथ दो घूँसे ऐसे रसीद किये कि वह कटे पेड़ की तरह पानी में औंधा जा गिरा। कुछ देर यों ही निश्चल पड़ा-पड़ा अपने सिर के चारों ओर पानी की सतह पर बुलबुले छोड़ता रहा। इधर रेमण्ड अपने आदमी को दनादन मारे चला जा रहा था। उसके सारे चेहरे पर खून की धारियाँ वह रही थीं। उसने कनखियों से मेरी तरफ

देखकर कहा, "जरा निगाह रखना। बस थोड़ी-सी कसर और बाकी रह गयी है।"

"अरे देखो, देखो," मैं चिल्ला उठा, "चाकू! चाकू!"

लेकिन अफसोस, तीर हाथ से निकल चुका था। अरब ने 'घच्च-घच्च' रेमण्ड की बाँह और मुँह तब तक चाकू से गोद डाले थे।

मैसन उछलकर सामने आ गया। दूसरा अरब पानी से निकलकर चाकूवाले की आड़ में आ खड़ा हुआ था। हममें से किसीकी हिम्मत नहीं पड़ी की अपनी जगह से हिलें-डुलें। दोनों अरब, हमारी ओर चाकू ताने, हमें एकटक देखते धीरे-धीरे पीछे हटने लगे। जब इतनी दूर पर पहुँच गये कि खतरा नहीं रहा तो झटके से पलटे और सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए। धूप सिर पर थपेड़े मार रही थी और हम लोग स्तब्ध खड़े थे। रेमण्ड की घायल बाँह से खून टहक रहा था। उसने कुहनी के ऊपर बाँह को जोर से भींच लिया था।

मैसन ने एक डॉक्टर के बारे में बताया कि वह हमेशा रविवार की छुट्टी यहीं समुद्रतट पर आकर बिताया करता है। रेमण्ड ने कहा, "तब तो अच्छा है। एकदम सीधे वहीं चलें।" अभी बात भी पूरी नहीं कर पाया था कि मुँह के घाव से खून के बुलबुले फूटने लगे।

इधर-उधर से हम दोनों ने उसे कन्धों का सहारा दिया और बँगले पर ले आये। यहाँ आ चुके तो रेमण्ड कहने लगा कि घाव ऐसे ज्यादा गहरे नहीं हैं और वह खुद ही डॉक्टर के यहाँ चला जायेगा। देखते ही मेरी का चेहरा तो फक् पड़ गया, और श्रीमती मैसन ने रोना शुरू कर दिया।

मैसन और रेमण्ड डॉक्टर के यहाँ चले गये। औरतों को सारी बात समझाने के लिए मैं बँगले पर ही रह गया, लेकिन इस काम में मन नहीं लगा। जरा देर में सारा जोश ठण्डा हो गया, इसलिए समुद्र की ओर ताकता हुआ सिगरेट फूंकने लगा।

रेमण्ड को लेकर मैसन डेढ़ के करीब लौटा। बाँह पर पट्टी बँधी थी और मुँह के एक ओर, चिपकने वाले प्लास्टर की चित्ती लगी थी। डॉक्टर ने बताया था कि चिन्ता की कोई बात नहीं है लेकिन रेमण्ड का चेहरा

बहुत उतरा हुआ लगता था। मैसन ने उसे हँसाने की बहुत कोशिश की, लेकिन कोई असर नहीं हुआ।

सहसा रेमण्ड बोला, "मैं जरा एक चक्कर समुद्र की तरफ लगा आऊँ।" मैंने पूछा कि उसका इरादा किस तरफ जाने का है, तो "ताजा हवा खा आऊँ" जैसी कोई बात उसने मुँह ही मुँह में कही। मैंने और मैसन ने भी साथ जाने को कहा तो वह आपे से बाहर हो गया; बोला, "आप लोग अपना काम देखिए।" मैसन कहने लगा कि रेमण्ड की जो हालत है उसमें ज्यादा जिद करना भी ठीक नहीं। खैर, जब वह निकल गया तो मैं पीछे हो लिया।

बाहर तो मानो भाड़ तप रहा था। रेत और पानी पर धूप ने जैसे लपलपाती आग की लपटों का चँदोवा तान दिया था। हम लोग काफी देर चलते रहे। लगा, रेमण्ड किसी निश्चित लक्ष्य की ओर जा रहा है; कम से कम उसे पता जरूर है कि कहाँ जा रहा है। लेकिन हो सकता है मुझे यों ही भ्रम हो गया हो।

तट जहाँ समाप्त होता है, वहाँ पानी की एक पतली-सी धारा है। यह धारा भारी चट्टान के पीछे निकलकर रेत में नाली-सी काटती हुई समुद्र में जा मिली है। यहाँ देखा, अपने वही दोनों अरब, नीली-नीली कन्थी पहने रेत पर लेट लगा रहे हैं। इस समय तो ऐसे निरीह लगते थे मानो उनके मन में कोई हिंसा-द्वेष ही न हो। हमें अपनी ओर आता देखकर भी वे हिले-डुले नहीं। जिसने रेमण्ड को घायल किया था वह बिना मुँह से कुछ बोले उसे एकटक देख रहा था। दूसरा छोटी-सी बाँसुरी पर सरगम के तीन सुर निकाल रहा था; कनखियों से हमें देखते हुए वह बार-बार यही सुर बजाता रहा।

कुछ देर कोई भी नहीं हिला। उन तीनों सुरों और झरने की कल-कल को छोड़कर चारों ओर धूप और सन्नाटे का साम्राज्य था। अब रेमण्ड का हाथ पिस्तौल के खोल पर आ गया। लेकिन दोनों अरब अब भी निश्चल रहे। देखा, बाँसुरी बजानेवाले अरब के पाँव के दोनों अँगूठे सम-कोण बनाते-से बाहर की ओर निकले हुए हैं।

आँखें अपने 'शिकार' से हटाये बिना ही रेमण्ड ने मुझसे पूछा, "कहो तो

भून दूँ इसे ?"

मेरा दिमाग विजली की तेजी से काम करने लगा—अगर इसे मना करता हूँ तो मन की इस हालत में जरूर यह भड़ककर पिस्तौल चला वैठेगा। इसलिए उस समय एकदम जो सूझा वही वोल उठा, "अभी तक तो यह तुमसे कुछ नहीं बोला। यों विना चेताये अचानक किसी पर गोली चलाना शान के खिलाफ वात है।"

फिर एकएम सन्नाटा छा गया। हाँ, वह झरने की कलकल और स्तब्ध तपी हवा में ताना-वाना बुनती वाँसुरी की धुन जरूर गूँजती रही।

आखिर रेमण्ड बोला, "अच्छा अगर तुम्हारा यही खयाल है तो अभी इसे एकाध गाली-वाली देता हूँ। पलटकर इसने जवान भी खोली कि बस मैं गोली···"

"ठीक।" मैंने कहा। "लेकिन जव तक वह खुद अपना चाकू न निकाले तुम्हें गोली चलाने की कोई जरूरत नहीं।"

रेमण्ड के अंग कुसमुसाने लगे। बाँसुरीवाला अरव वाँसुरी वजाये चला जा रहा था। दोनों हमारी हर गति-विधि पर निगाह वनाये थे।

"अच्छा सुनो", मैंने रेमण्ड से कहा, "यह पिस्तौल तो दो मुझे, और तुम जाकर उस दाहिने वाले को सँभालो। दूसरे ने जरा भी शैतानी की या चाकू-वाकू निकाला तो मैं समझ लूँगा।"

रेमण्ड ने रिवाल्वर मुझे पकड़ाया तो एक वार धूप का चौंधा उस पर पड़कर उछला। लेकिन अभी तक हिला अपनी जगह से कोई भी नहीं था। लगता था जैसे हर चीज चारों तपफ से हमें इस तरह दबाकर भींचे हुए है कि उँगली तक नहीं हिलायी जा रही। विना निगाह हटाये हम लोग वस एक-दूसरे को देखे चले जा रहे थे। उस एक क्षण को ऐसा लगा मानो इस छोटी-सी रेत की पट्टी पर, धूप और पानी के वीच, वाँसुरी और झरने की कल-कल के दुहरे सन्नाटे के वीच आकर सारे संसार की गति रुक गयी है, सारा विश्व स्तब्ध रह गया है। और तभी मेरे मन में आया, गोली चलाओ या न चलाओ, नतीजा तो मूलत: दोनों का एक ही है; कतई कोई फर्क नहीं पड़ता।

अचानक देखा, दोनों अरब गायब हो गये। दोनों छिपकलियों की तरह चट्टान की आड़ में सरककर नौ-दो-ग्यारह हो गये थे। हारकर मैं और रेमण्ड मुड़े और वापस लौट पड़े। अब वह काफी खुश दीखता था और यह बता रहा था कि लौटने के लिए बस कौन-सी लेनी होगी।

बँगले पहुँचे तो खट्-खट् करता रेमण्ड काठ की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चला गया। मैं नीचे ही खड़ा रहा। धूप सिर में हथौड़े की तरह ठक्-ठक् कर रही थी। हिम्मत नहीं हो रही थी कि ये सीढ़ियाँ चढ़ूँ, फिर ऊपर जाकर महिलाओं के साथ हा-हा ही-ही करूँ। मगर यहाँ गरमी ऐसी भीषण थी कि आसमान से बरसती आँखें फोड़नेवाली आग की बाढ़ में यहाँ खड़े रहना और भी जानलेवा था। एक जगह खड़ा रहूँ या चलता रहूँ, फर्क नहीं था; गरमी और धूप तो कम होगी नहीं। सो कुछ देर बाद मैं वापस समुद्र पर ही आ गया और यों ही टहलने लगा।

जहाँ तक निगाह जाती थी वहीं लाल-लाल भभक फैली थी। भरी-भरी-सी लहरें दम तोड़ती हिचकियों के साथ दहकती रेत पर सिर पटक रही थीं। तट के सिरे पर ढोकों और चट्टानों की ओर चलते हुए मुझे ऐसा लगा जैसे धूप के मारे मेरी दोनों कनपटियाँ सूज आयी हैं। मानो मुझे रोकने की जिद में धूप मेरे सिर पर चढ़ बैठी है और दबोचे चली जा रही है, और यह दहकती लपट, बर्मे की तरह माथा फोड़कर छेद कर डालेगी। मैंने दाँत भींच लिये। पतलून की दोनों जेबों में मुट्ठियाँ कस गयीं—और शरीर का रेशा-रेशा इस धूप, तथा धूप के प्रभाव द्वारा मेरे भीतर भरते अन्ध-उन्माद से मोर्चा लेने को तनकर खड़ा हो गया। जब-जब रेत में किसी काँच के टुकड़े या सीपी पर पड़कर धूप का तेज कौंधा ऊपर लपकता, मेरे जबड़े और भी कस जाते। मैं यों हार नहीं मानूंगा। यह धूप मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। और मैं दृढ़तापूर्वक चलता रहा।

समुद्रतट पर काफी दूर जाकर चट्टान का काला-काला कूबड़ दिखायी दे रहा था। उसके चारों ओर कौंधा मारती धूप की सफेदी और रोओं जैसी घास का घेरा खिचा था, लेकिन मेरे मन में तो उसके पीछे बहते स्वच्छ-शीतल झरने का ही सपना झलमला रहा था और बहते पानी की

कल-कल सुनने को मन छटपटा रहा था। ऐसा कुछ पाने और करने की कसमसाहट हो रही थी जिससे इस चौंधे से; रोती औरतों के चेहरों से, दुनिया भर की जद्दोजेहद और चिन्ता-परेशानी से छुटकारा पा सकूं— इस सबको झटककर फेंक सकूं। मन ललक रहा था कि जैसे भी हो चट्टान के पार की उस छतनारी छाँह और दिव्य-शान्ति को एक बार जी भरकर गले लगा लूं···

लेकिन वहाँ पहुंचकर देखा कि वह रेमण्डवाला अरब वापस लौट आया है। इस बार अकेला ही था। सिर के नीचे दोनों हाथ लगाये चित लेटा था। चेहरे पर चट्टान की छाया थी—बाकी शरीर पर धूप पड़ रही थी। उसकी कन्थी (डूंगरी) से भाप निकलती दिखायी दे रही थी। एक बार तो मैं सकपका उठा। मेरा तो खयाल था कि मामला रफा-दफा हो गया है। इसलिए इधर आते हुए इस बात की रत्तीभर भी आशंका नहीं हुई।

मुझे देखते ही अरब जरा-सा उठा। जैसे ही उसका हाथ जेब की ओर बढ़ा कि मेरी अँगुलियाँ भी अपने कोट की जेब में पड़े रेमण्ड के पिस्तौल पर अपने-आप कस गयीं। अब अरब बिना जेब से हाथ निकाले फिर वापस लेट गया। मेरे और उसके बीच की दूरी दसेक गज तो रही ही होगी; शायद इसीलिए वह मुझे धूप के धुन्ध में थर-थर काँपती धुँधली-धुँधली छाया जैसा दीख रहा था। फिर भी रह-रहकर उसकी अधमुंदी पलकों के बीच आँखों की पुतलियाँ चमक उठती थीं। लहरों के छपाके अब दोपहर की अपेक्षा काफी कम और कमजोर लगते थे। लेकिन धूप ज्यों की त्यों थी और रेत के लम्बे फैलाव से लेकर इस चट्टान तक धरती को मानो निर्दयता से खूंदे डाल रही थी। लगता था, दो घण्टे से सूरज अपनी जगह से टस से मस नहीं हुआ है और पिघले फौलाद के सागर में जाकर निस्तेज-निश्चल पड़ गया है। बहुत दूर क्षितिज पर एक जहाज चला जा रहा था। अरब पर अपनी निगाहें जमाये हुए भी मैं कनखी से जहाज के उस काले-काले धब्बे को सरकते देख लेता था।

हठात् मन में उठा, क्यों न झटके से पलटकर यहाँ से लौट पड़ूं, इस सारे झमेले को दिमाग से झाड़ फेंकूं; किस्सा ही खतम हो जाये। लेकिन

गरमी से खदबद-खदबद करता वह सारा समुद्रतट मुझे पीछे से भींचे चला जा रहा था। मैं झरने की दिशा में कुछ कदम और आगे बढ़ा। अरब अभी भी नहीं हिला। हम लोगों के बीच अभी भी कुछ फासला था। शायर चेहरे पर पड़ती छाया के कारण मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझे देखकर मुँह बिचकाकर हँस रहा हो।

मैं रुका। तपन से गाल झुलसने लगे, भौंहों पर पसीने की बूँदें घनी हो आयीं; हू-ब-हू वैसी ही तपन थी जैसी माँ की अन्त्येष्टि के समय महसूस हो रही थी। माथे के भीतर खास तौर से मुझे एकदम वही बेचैनी और वही अकुलाहट लग रही थी और ऐसा लगता था जैसे माथे की सारी की सारी नसें तड़ककर बाहर फट पड़ेंगी। जब इस सबको सह पाना बूते से बाहर हो गया तो एक कदम और आगे बढ़ा। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह सरासर बेवकूफी है—एकाध गज बढ़कर इस धूप से बचाव नहीं होगा—लेकिन कदम बढ़ चुका था। और मेरे कदम का बढ़ना था कि अरब ने फुर्ती से धूप-चीरता चाकू खोलकर मेरी छाती पर तान दिया।

इस्पात के चमचमाते फल से बिजली की एक लपट कौंधी और उसके साथ ही मुझे ऐसा लगा मानो किसी ने मेरे माथे में भाला घोंप दिया हो। ठीक उसी समय भौंहों पर इतनी देर का इकट्टा सारा पसीना, कुहरे के गुनगुने परदे की तरह पलकों पर ढुलक आया। आँसू और पसीने के परदे ने मुझे अन्धा बना दिया। मुझे होश था तो सिर्फ इतना कि भाँय-भाँय करती धूप मेरी खोपड़ी कूट रही है। दूसरा होश बस यह था कि चाकू से लपकती रोशनी की तेज धार मेरी पलकों को चीरती नुकीले बरमे की तरह पुतलियों में सूराख किये दे रही है।

तब सबकुछ मेरी आँखों के सामने चकरघिन्नी की तरह भन्ना उठा। समुद्र से आग की लपटों का एक झोंका आया और सारा आसमान इस सिरे से उस सिरे तक कड़कड़ाकर दो टूक हो गया और इस दरार के बीच से आग की लपटों का एक अम्बार घरघराकर टूट पड़ा। शरीर की एक-एक रग फौलादी कमानी की तरह तन उठी और रिवाल्वर की जकड़ कस गयी। घोड़ा दबा और रिवाल्वर के हत्थे का चिकना-चिकना तला मेरी

हथेली पर टक्कर मार उठा—"धाँय !" और तब चाबुक की 'सड़ाक्' की तरह देखते-देखते सबकुछ घटित हो गया। पसी ने और धूपे का जो परदा मुझे जकड़े था उसे मैंने झटके से फाड़ फेंका। जानता था कि कि मेरा दिमाग चकरा उठा है और मैं अपने आपे में नहीं हूँ। अपनी हरकत से सागरतट की व्यापक शान्ति को मैंने चूराचूर कर डाला है—उस शान्ति और सुख को जिस पर मैं आज सारे दिन खुश था···"धाँय ! धाँय !" उस निर्जीव और बेहरकत शरीर पर मैंने चार गोलियाँ और चलायीं, लेकिन कोई असर नहीं दिखायी दिया। वह जैसा-का-तैसा पड़ा रहा। हाँ, एक के बाद एक हर गोली का धमाका मेरे सत्यानाश के दरवाज़े पर भीषण कर्ण-भेदी दस्तक की तरह पड़ता रहा···।

दूसरा भाग

एक

गिरफ्तारी के एकदम बाद ही मुझसे अनेक बार सवालात किये गये। लेकिन यह सारी पूछ-ताछ नाम और वल्दियत वाली खानापूरी की पूछ-ताछ थी। पहले-पहल ये सवाल-जवाब हुए थाने में; लेकिन मुकदमे में यहाँ किसी को खास दिलचस्पी नहीं लगी। हफ्ते-भर बाद जब जाँच-मजिस्ट्रेट के सामने पेशी हुई तो लगा कि उसने प्रकट उत्सुकता से मेरा मुआयना किया। औरों की तरह उन्होंने भी सबसे पहले नाम, वल्दियत, ज़रियाए-माश (पेशा), पैदायशी तारीख और स्थान से पूछ-ताछ शुरू की। इस सारी जानकारी के बाद सवाल किया, "तुमने अपनी पैरवी के लिए वकील कर लिया ?" मैंने बताया, "जी, नहीं।" मेरा कभी इस तरफ खयाल भी नहीं गया था; इसलिए पूछा कि क्या मुझे वाकई वकील कर लेना चाहिए ? तो वे बोले, "यह भी कोई पूछने की बात है ?" मैंने कहा, "मुझे तो अपना मुकदमा बड़ा सीधा-सादा लगता है।" मुस्कराकर मजिस्ट्रेट साहब ने जवाब दिया, "खैर, तुम्हें लग सकता है। लेकिन हम लोगों को तो कानून के मुताबिक ही चलना पड़ता है। तुम वकील नहीं लगाओगे तो अदालत तुम्हारे लिए वकील का इन्तजाम कर देगी।"

वाह ! यह इन्तज़ाम तो खूब है। इन छोटी-छोटी बातों का भी अदालत को इतना खयाल है। मैंने यह बात मजिस्ट्रेट साहब को बतायी तो उन्होंने भी स्वीकार किया कि कानून सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है और उससे जो चाहो सो हो सकता है।

पहले-पहल तो मैंने भी उनकी बातों की ओर खास ध्यान नहीं दिया। जिस कमरे में उन्होंने मुझसे सवाल-जवाब किये थे, वह देखने में सामान्य बैठक-जैसा लगता था—खिड़कियों पर परदे थे और डेस्क पर एक लैम्प रखा था। मजिस्ट्रेट साहब ने मुझे बैठने को जो कुर्सी दी उस पर तो इस

लैम्प की रोशनी पड़ती थी, लेकिन खुद उनका चेहरा अँधेरे में रहता था।

मैंने इस तरह के दृश्यों के अनेक विवरण पुस्तकों में पढ़ रखे थे। शुरू-शुरू में तो यह सब खिलवाड़-सा लगा। हाँ, इस बातचीत के बाद मैंने मजिस्ट्रेट को ज़रा गौर से देखा—तीखे नक्शवाला लम्बा-सा आदमी, गहरी नीली-नीखी आँखें, बड़ी-बड़ी खिचड़ी मूँछें और सिर पर घने-घने तुषार-धवल केश। लगा, आदमी शक्ल से बहुत ही समझदार, विद्वान और सब मिलाकर पसन्द आने लायक़ है। बस, एक ही चीज़ थी जिसने मेरा मन खराब कर दिया—थोड़ी-थोड़ी देर बाद उनके मुँह पर एक वीभत्स-सी ऐंठन उभर उठती थी। लेकिन यह भी एक ऐसी मुद्रा दीखती थी जो 'च्च्' कहते समय लोगों के मुँह पर अपने-आप आ जाती है। बाहर निकलते समय मैं उनकी ओर मिलाने के लिए हाथ बढ़ाते और 'नमस्कार' कहते-कहते रुक गया। ऐन मौके पर याद आ गया कि मैं तो एक आदमी की हत्या के अपराध में यहाँ लाया गया हूँ।

अगले दिन मेरी कोठरी में ही एक वकील-साहब तशरीफ ले आये—ठिगने, गोल-मटोल छोकरे-से आदमी—सिर पर तेल चमकते काले-काले बाल। मैं पूरी बाँहों की कमीज़ पहने था, लेकिन वे भीषण गर्मी के बावजूद, काला-सूट, सख्त कॉलर और चौड़ी-चौड़ी काली-सफेद धारियोंवाली भड़कीली टाई डाटे थे। मेरी खाट पर अपना थैला रखकर उन्होंने अपना परिचय दिया। बताया कि मेरे मुकदमे के कागजात उन्होंने निहायत गौर से पढ़े हैं। उनकी राय से मुकदमे में काफी होशियारी बरतने की ज़रूरत है और हाँ, मैं अगर उनकी सलाह मानता चलूँ तो छूट जाने की पूरी-पूरी गुंजाइश है। मैंने धन्यवाद दिया तो बोले, "अच्छा, तो आइए अब काम शुरू कर दिया जाये।"

मेरी खाट पर बैठकर उन्होंने बताया कि अदालत की तरफ से मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे में तहकीकात की जा रही है। इस बात की सूचना मिल गयी है कि अभी-अभी एक आश्रम में मेरी माँ की मृत्यु हुई है। 'मोरेंगो' में हुई तफतीश में पुलिस ने बताया कि माँ की अन्त्येष्टि में मैंने बड़ी 'हृदय-हीनता' दिखायी।

"एक बात समझ रखो," वकील साहब बोले, "इस तरह की बातों

के बारे में तुमसे पूछताछ करने में मुझे कतई अच्छा नहीं लग रहा, लेकिन यह चीज़ बड़ी महत्त्वपूर्ण हो गयी है। तुम्हारे ऊपर इलज़ाम है 'हृदय-हीनता और बेहयाई' का, अब जब तक मैं इस आरोप का जवाब देने का कोई रास्ता न निकाल लूँ, बचाव करने में बड़ी दिक्कत हो जायेगी। और इस मामले में कोई दूसरा नहीं, तुम और अकेले तुम ही मेरी मदद कर सकते हो।"

इतनी भूमिका के बाद ही उन्होंने सवाल कर डाला कि उस 'दुखद-अवसर' पर मुझे मन में शोक हुआ था या नहीं? बड़ा अजब सवाल लगा। मैं तो किसी से ऐसा सवाल पूछते हुए खुद विकट धर्म-संकट में पड़ जाता।

जवाब में मैंने कहा कि इधर कुछ सालों से अपने मन की भावनाओं की तरफ ध्यान देने की आदत ही छूट गयी है, इसलिए इस बात का जवाब दे पाना बड़ा मुश्किल है। हाँ, यह धर्म और ईमान से कह सकता हूँ कि माँ को मैं चाहता बहुत था। लेकिन इससे क्या? इतना कह चुकने के बाद खयाल आया तो बोला, "सच बात तो यह है कि सामान्य लोग जिन्हें प्यार करते हैं आज या कल उनके मरने की भी, थोड़ी-बहुत कामना ज़रूर करते हैं।"

इस पर वकील साहब एकदम घबरा उठे। झट मुझे टोककर बोले, "कसम खाओ, मुकदमे में या जाँच-मजिस्ट्रेट के सामने इस किस्म की कोई बात मुँह से नहीं निकालोगे।"

उनकी तसल्ली के लिए मैंने कसम खा ली। मगर उनके सामने यह भी खुलासा कर दिया कि कभी-कभी किन्हीं खास मौकों पर मेरी भावनाएँ, मेरी शारीरिक स्थिति से प्रभावित होने लगती हैं। मसलन जिस दिन माँ के अन्तिम-संस्कार में गया था उस दिन यों ही आधी नींद में था, इसलिए मुझे कतई होश नहीं था कि कहाँ क्या हो रहा है। बहरहाल, एक बात का विश्वास मैंने अपने वकील साहब को दिला दिया कि मेरी तो यही इच्छा थी कि माँ अभी न मरतीं।

हाँ, वकील साहब फिर भी नाराज़ ही लगे। झिड़ककर बोले, "सिर्फ इतना ही तो काफी नहीं है।"

कुछ सोच-साचकर उन्होंने सवाल किया कि क्या इस बात को यों

रखा जा सकता है कि उस दिन मैंने अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण और संयम से काम लिया ?

"जी नहीं," मैंने कहा, "यह कहना सही नहीं है।"

वकील साहब ने मुझे बड़ी अजब निगाहों से देखा—मानो मेरे प्रति सहसा उन्होंने क्रोध, झुँझलाहट और विरक्ति का झटका महसूस किया हो। फिर बड़ी बेरुखी से बोले कि बहरहाल, आश्रम के अध्यक्ष और कुछ कर्मचारियों की गवाही तो हर हालत में होगी।

"और हो सकता है, यही तुम्हारा बेड़ा ले डूबे।" अन्त में वे बोले।

मैंने बताया कि मेरे ऊपर लगाये गये इलज़ाम और माँ की मृत्यु का तो आपस में कहीं कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तो जवाब में उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि मेरी बात से लगता है, कभी कानून से मेरा वास्ता नहीं पड़ा।

और इतना कहते ही वे परेशान-से चले गये। तब मेरी इच्छा हुई कि वे कुछ देर और रुकते और मैं उनसे साफ-साफ शब्दों में कहता कि 'मुझे आपकी हमदर्दी चाहिए। इसलिए नहीं कि आप मेरा काम अच्छे ढंग से करें, बल्कि कहूँ, यों ही मन होता है कि आपकी हमदर्दी मिले। लेकिन मैंने देखा कि मेरी बातचीत, मेरा व्यवहार, और सब मिलाकर, मैं उनके लिए असहनीय हो उठा था। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि आखिर मैं किस किस्म का आदमी हूँ, अतः उनकी झल्लाहट भी स्वाभाविक ही थी। एकाध बार मन में उठा भी कि उन्हें विश्वास दिलाऊँ मैं भी औरों-जैसा ही बहुत साधारण-सामान्य किस्म का आदमी हूँ। लेकिन वस्तुतः इससे बहुत-कुछ हाथ आता नहीं लगा तो टाल गया। टालने के पीछे भी कोई और कारण नहीं, महज़ आलस्य ही था।

उसी दिन इसके बाद फिर मुझे जाँच-मजिस्ट्रेट के दफ्तर में लाया गया। दोपहर के दो का समय था। इस समय तो कमरे में रोशनी भरपूर छायी थी और बेहद गरमी थी। खिड़की पर महीन-सा परदा पड़ा था।

कुरसी ले लेने को कहकर मजिस्ट्रेट साहब ने निहायत ही मुलायम लहजे में बताया कि कुछ 'अप्रत्याशित परिस्थिति' आ जाने के कारण 'मेरा वकील' तो आ नहीं पायेगा। उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं चाहूँ

तो उनके सवालों के जवाब अपने वकील के आ जाने के बाद दे दूँ।

इस बात के जवाब में मैं बोला, "मैं अपनी सफाई खुद दे लूँगा।" उन्होंने सामने डेस्क पर रखी घण्टी का बटन दवाया तो एक नौजवान क्लर्क आकर ठीक मेरे पीछे बैठ गया। मैं और मजिस्ट्रेट साहव भी अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गये। जाँच की कार्यवाही शुरू हुई। उन्होंने बात ही यहाँ से शुरू की कि मुझे लोग 'घुन्ना और चुप्पा' आदमी समझते हैं। इस बारे में मेरी अपनी क्या राय है?

मैंने जवाब दिया, "जी, मेरे पास बोलने को होता ही बहुत कम है। इसलिए अक्सर मुँह बन्द ही रखता हूँ।"

इस बार भी मजिस्ट्रेट साहव पहली बार की तरह मुस्कराये, "हाँ, यही सबसे बड़ा कारण हो सकता है। मगर खैर, यह बात कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण है भी नहीं।"

कुछ देर चुप रहने के बाद वे सहसा आगे की ओर झुक आये और मेरी आँखों में आँखें डालकर ज़रा ऊँची आवाज़ में बोले, "मुझे तो अगर किसी में दिलचस्पी है तो वह सिर्फ तुम हो।"

उनका मंशा मेरी समझ में नहीं आया, इसलिए कुछ नहीं बोला।

वे कहते रहे, "तुम्हारे मुकदमे की कई बातें मुझे परेशानी में डाले हुए हैं। विश्वास करूँ कि तुम उन्हें समझने में मेरी मदद करोगे?"

मैंने जवाब दिया कि दरअसल बात तो निहायत ही सीधी और साफ है। इस पर उन्होंने सारा ब्यौरा माँगा कि मैंने उस दिन क्या-क्या किया था। हालाँकि सार रूप में ही सही, मैं सारी कथा पहली भेंट में ही बता चुका था, कि कैसे मैं रेमण्ड से मिला, समुद्र-तट पर गया, कैसे हम लोग तैरे, कैसे मैं दुबारा समुद्र-तट पर गया और कैसे मैंने पाँच गोलियाँ चलायीं। लेकिन यहाँ फिर उस सबको दुबारा सुनाना पड़ा। हर वाक्य के बाद वे सिर हिला-हिलाकर 'ठीक है, ठीक है।' कहते रहे। जब मैंने रेत पर पड़े उस अरब के शरीर का वर्णन किया तो वे ज़रा खास तौर पर गर्दन हिलाकर बोले, "बहुत ठीक।" उसी कहानी को बार-बार सुनाते-सुनाते मैं तो बहुत ही ऊब गया था। और इस समय तो ऐसा लग रहा था मानो ज़िन्दगी में इतना कभी नहीं बोला।

फिर कुछ देर चुप रहने के वाद मजिस्ट्रेट साहब यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि मेरे लिए उनसे जो भी वन पड़ेगा, वे ज़रूर करेंगे; कि उन्हें मुझमें काफी दिलचस्पी हो गयी है और भगवान् ने चाहा तो इस संकट के समय में ज़रूर किसी काम आयेंगे। लेकिन सबसे पहले तो अभी कुछ और सवाल पूछने ज़रूरी हैं।

सबसे पहले उन्होंने एकदम सीधा सवाल किया कि क्या मैं अपनी माँ को प्यार करता था?

"जी हाँ," मैंने जवाव दिया, "जैसे और लोग अपनी माँ को प्यार करते हैं, मैं भी करता था।" मेरे पीछे बैठा-बैठा क्लर्क धड़ाधड़ एक गति से टाइप किये चला जा रहा था, लेकिन ठीक उसी क्षण उसकी अँगुली शायद किसी गलत अक्षर पर पड़ गयी क्योंकि तभी, आवाज़ से लगा कि उसने कागज़ पीछे लौटाकर पहले का लिखा हुआ काट दिया है।

इसके वाद मजिस्ट्रेट ने एकदम दूसरा सवाल पूछ डाला कि मैंने एक के वाद एक लगातार पाँच गोलियाँ क्यों चलायीं? मुझे इस सवाल और पहले सवाल में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं दिखायी दिया।

मैंने कुछ देर सोचा, फिर वताया कि गोलियाँ लगातार चलायी गयी हों, ऐसा नहीं है। सबसे पहले एक चलायी, फिर कुछ देर रुककर वाकी चार चलायीं।

"पहली और दूसरी गोली चलाने के वीच में तुम क्यों रुके?"

मुझे लगा जैसे मेरी आँखों के आगे वह सारा-का-सारा दृश्य नाच गया—समुद्रतट की वह सिन्दूरी तपन, गालों पर भभकती साँस का स्पर्श। इस वार मुझसे कोई जवाव देते नहीं वना।

मेरी इस चुप्पी के दौरान में मजिस्ट्रेट साहव कभी कसमसाकर आसन वदलते, कभी वालों में अँगुलियाँ चलाते, कभी ज़रा-से उठकर फिर बैठ जाते। आखिर डेस्क पर कुहनियाँ टेककर वे अजीव मुद्रा वनाये मेरी ओर झुक आये।

"लेकिन क्यों? किसलिए तुम एक औंधे पड़े आदमी पर गोलियाँ दागते गये, वताओ?" उन्होंने अपने 'क्यों' और 'किसलिए' पर ज़ोर देकर पूछा।

इस वार भी मुझे कोई जवाब नहीं सूझा।

मजिस्ट्रेट ने माथे पर हाथ फेरा और ज़रा से-वदले लहजे में अपना प्रश्न दुहराया, "मैं पूछता हूँ 'क्यों किया तुमने ऐसा?' मैं ज़ोर देकर पूछता हूँ, मुझे कारण बताओ।"

मैं अब भी कुछ नहीं बोला।

अचानक वे उठे और सामने की दीवार के सहारे फाइलें रखने की अलमारी के पास जाकर एक दराज़ खींचकर खोली और उसमें से सूली-चढ़े ईसा की चाँदी की मूर्ति निकालकर हाथ में झुलाते हुए वहीं वापस आ गये।

"जानते हो, यह कौन है?" उनका स्वर एकदम बदल गया था। भावावेश से उनका गला काँप रहा था।

"जी हाँ, जानता तो हूँ," मैंने जवाब दिया।

अब तो उनका बाँध टूट गया, वे बिना साँस लिये अन्धाधुन्ध बोलते चले गये। बताने लगे कि भगवान् में उन्हें कितनी आस्था है; कि अधम-से-अधम पापी तक किस प्रकार भगवान् की क्षमा का अधिकारी हो सकता है। लेकिन इसके लिए सबसे पहली शर्त यही है कि उसे सच्चे दिल से पश्चात्ताप करना होगा, उसे अबोध शिशु की तरह सरल हृदय और निष्ठावान होना होगा, निष्कपट भाव से भगवान् पर, उसके न्याय पर विश्वास लाना होगा। वे मेज़ पर आर-पार झुके पड़ रहे थे और मूर्ति को लगातार मेरी आँखों के सामने घुमाये जा रहे थे।

वस्तुतः दो कारणों से उनकी बातें समझने में मुझे दिक्कत हो रही थी—एक तो, दफ्तर में बेहद उमस थी और बड़ी-बड़ी मक्खियाँ मेरी कनपटियों के आस-पास या ऊपर बैठकर भनन-भनन किये जा रही थीं; दूसरे, उनकी बातों ने मुझे ज़रा डरा और चौंका भी दिया था। हाँ, यह मुझे ज़रूर लगा कि इस तरह डरना या चौंकना बहुत बेतुका है, इन वर्तमान परिस्थितियों में और भी बेतुका इसलिए है, कि लाख हो मुज-रिम बनकर तो मैं आया था। खैर, वे बोलते रहे और मैं भरसक उनकी बात समझने की कोशिश करता रहा। इतनी बात मेरी समझ में आ गयी कि इस सारे इकवाली-बयान में सबसे ज़्यादा ज़रूरत केवल एक बात

की सफाई की है और वह यह कि दुवारा गोलियाँ चलाने से पहले मैं रुका किसलिए ? बाकी सारी बातें तो खैर, एक तरह से ठीक-ठीक ही थीं। मजिस्ट्रेट साहव को चक्कर में इसी बात ने डाल रखा था।

मैं कहने लगा कि इस बात पर इतना ज़्यादा ज़ोर देना गलत है, यह कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण चीज़ है भी नहीं। लेकिन शब्दों का मेरे मुँह से निकलना था कि वे एकदम सीधे तनकर खड़े हो गये और वड़े सच्चे दिल से पूछने लगे कि तुम ईश्वर को तो मानते हो न ? और जब मैंने कहा, जी नहीं, तो गुस्से में भरे धम्म से कुरसी पर फिर जा बैठे।

कहने लगे कि इस बात की तो वे सात जन्म में भी कल्पना नहीं कर सकते कि कोई ईश्वर को न माने। मानव-मात्र भगवान् में आस्था रखते हैं; जो उसे कोसते और गालियाँ देते हैं वे तक उसे मानते हैं। यह उनका अडिग विश्वास था। "भगवान् की आस्था को लेकर अगर कभी रत्ती-भर भी संशय मेरे मन में आया तो समझ लेना कि मेरे जीवन का कोई अर्थ, कोई लक्ष्य नहीं रह जायेगा।" उन्होंने तैश में आकर पूछा, "तुम्हें अच्छा लगेगा कि मेरे जीवन का कोई लक्ष्य, कोई अर्थ न रहे ?" मेरे भेजे में सचमुच नहीं आया कि 'मेरा अच्छा लगना', वहाँ कहाँ से आ टपका ? यह बात मैं उनसे कह भी डाली।

मैंने अभी बोलना बन्द भी नहीं किया था कि उन्होंने फिर मूर्ति को झटके के साथ ठीक मेरी नाक के नीचे बढ़ा दिया और बोले, "खैर, मैं तो ईसाई हूँ और ईश्वर से सच्चे दिल से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे पाप क्षमा करे। भैया मेरे, तुम्हें विश्वास क्यों नहीं आता कि 'उसने' तुम्हारी ही खातिर यातनाएँ सही हैं ?"

उनके मुँह से 'भैया मेरे' शब्द सुनकर मुझे लगा कि उनके लहजे में सचमुच याचना का भाव है। लेकिन इस सब बकवास से मेरा जी ऊबने लगा। कमरा धीरे-धीरे और भी गरम हुआ चला जा रहा था।

जब किसी की बातचीत मुझे उबाने लगती है तो जान छुड़ाने के लिए मैं उनकी हर बात मान लेने का भाव दिखाता हूँ। यही मैंने अब किया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि मजिस्ट्रेट साहब का चेहरा दमक उठा।

"मानते हो न···मानते हो न···। अच्छा। अब भी नहीं मानोगे कि तुम आस्तिक हो और ईश्वर में विश्वास करते हो ?"

इनकार में जरूर मैंने सिर हिलाया होगा क्योंकि बड़े ढीले-ढाले और हताश भाव से मजिस्ट्रेट साहब फिर मरे-से भाव से बैठ गये।

कुछ देर शान्ति रही। हाँ, इस बीच टाइप राइटर ने हमारी अन्तिम बातचीत टाइप कर डाली। कहना न होगा कि इस सारे वार्तालाप के दौरान टाइपराइटर की 'टप्-टप्' चालू रही। तब मजिस्ट्रेट साहब बड़े दुखी भाव से आँखें फाड़-फाड़कर मुझे गौर से देखते-परखते रहे।

"अपनी इस सारी ज़िन्दगी में मैंने तुम जैसा जड़ और हृदयहीन प्राणी नहीं देखा।" वे बुझे स्वर में कहते रहे, "आज तक न जाने कितने मुजरिम यहाँ आये हैं। और सब-के-सब 'भगवान्' की इस यन्त्रणा-मूर्ति को देखकर फूट-फूटकर रोये हैं।"

बात मेरे होंठों तक आ-आकर रह गयी कि 'वे सचमुच मुजरिम थे इसलिए ज़रूर रोये होंगे।' मगर तभी खयाल आया कि मैं भी तो उस कठघरे में खड़ा हूँ। पता नहीं, क्यों, मंन इस बात को मानता ही न था कि मैं मुजरिम हूँ।

शायद यह जताने के लिए मजिस्ट्रेट साहब उठ खड़े हुए कि बातचीत अर्थात् मुलाकात खत्म हो गयी। उसी थके-बुझे परेशान-से लहजे में उन्होंने मुझसे एक आखिरी सवाल पूछा कि क्या मुझे अपने किये पर पछतावा है।

कुछ देर सोचने के बाद मैंने बताया कि मुझे तो पछतावा कम और परेशानी ज्यादा महसूस होती है। मुझे 'परेशानी' से ज्यादा उपयुक्त शब्द ही नहीं सूझा। लेकिन लगा वे समझे ही नहीं।

उस दिन की बातचीत में मामला यहीं तक आया।

इसके बाद कई बार और, मजिस्ट्रेट साहब के सामने मेरी पेशी हुई, लेकिन हर बार वकील साहब मेरे साथ रहे। इन सब जिरहों में, मेरे पहले दिये गये बयानों की बाल की खाल निकालने के अलावा और कुछ नहीं हुआ। या फिर वकील और मजिस्ट्रेट मिलकर कानूनी गुत्थियों से माथापच्ची करते रहे। ऐसे मौकों पर उन्हें खयाल ही नहीं रहता था कि मैं भी वहीं बैठा हूँ। बहरहाल, जैसे-जैसे समय बीतता गया सारी

जिरह का रंग ही बदलता गया। लगा, मजिस्ट्रेट साहब को अब मुझमें कोई खास दिलचस्पी नहीं रह गयी है और मेरे मुकदमे को लेकर वे मन-ही-मन कोई फैसला ले चुके हैं। इसके बाद न तो उन्होंने कभी 'भगवान्' का ज़िक्र ही किया और न ही वैसा कोई धार्मिक जोश ही दिखाया जिसके कारण पहली भेंट में मैं विकट धर्म-संकट में पड़ गया था। नतीजे में हमारे सम्बन्ध ज्यादा आत्मीय हो गये। उन्होंने कुछ और सवालात किये। इस पर वकील और मजिस्ट्रेट साहब में बहस होती रही और इसके बाद मेरी पेशी खत्म हो गयी। उन्होंने बताया कि मेरा मुकदमा अब 'अपना वक्त ले रहा है।' कभी-कभी बातचीत कानून से हटकर सामान्य धरातल पर आ जाती तो वकील और मजिस्ट्रेट दोनों मुझे उसमें भाग लेने को उकसाते। अब मैं ज्यादा निश्चिन्त भाव से साँस लेने लगा था। इन दिनों उन दोनों में किसी ने भी मेरे प्रति बेरुखी नहीं दिखायी और सबकुछ ऐसे आसान और प्रसन्न भाव से होता रहा कि मन में एक बड़ा बेतुका-सा खयाल घर करने लगा, मानो मैं भी इसी परिवार में से एक हूँ। ग्यारह महीने ये पेशियाँ चलीं और मैं सच कहता हूँ कि उनका मैं अभ्यस्त हो गया था। जिस क्षण मजिस्ट्रेट साहब अपने दफ्तर के दरवाज़े तक मुझे छोड़ने आते और बड़े दोस्ताना लहजे में मेरा कन्धा थपथपाकर कहते, "अच्छा तो 'दुश्मन-ईसा' साहब, आज बात यहीं तक रहे।" तो मुझे बेहद आनन्द आता। लगता, इससे ज्यादा सुखकर क्षण मैंने कभी पहले नहीं देखे। इसके बाद मुझे वॉर्डरों के हवाले कर दिया जाता।

दो

कुछ ऐसी भी बातें हैं जिन पर मैंने कभी बोलना नहीं चाहा। जेल में कुछ दिनों रहकर मैंने तय कर लिया कि ज़िन्दगी का यह हिस्सा भी उन्हीं न बोलनेवाली बातों में से एक रहेगा। बहरहाल, जैसे-जैसे समय बीतता

गया यह बात मेरे मन में जमने लगी कि इस विरक्ति का कोई ठोस आधार नहीं है और सच बात यह है कि पहले कुछ दिनों तो मुझे कभी खयाल भी नहीं आया कि मैं जेल में हूँ। हमेशा एक धुँधली-सी आशा बनी रहती कि कुछ-न-कुछ होगा और अचानक सबकुछ ठीक-ठाक हो जायेगा।

लेकिन मेरी के साथ हुई पहली और एकमात्र भेंट के बाद से ही सब-कुछ बदलने लगा। जिस दिन मुझे यह खत मिला कि जेलवाले अब मुझे दुबारा मिलने नहीं आने देंगे, मैं तुम्हारी पत्नी जो नहीं हूँ, बस, उसी दिन सचमुच मुझे महसूस हुआ कि यह कोठरी ही मेरी काल-कोठरी है, यही मेरी आखिरी मंज़िल है।

गिरफ्तारीवाले दिन मुझे एक बड़े-से कमरे में और भी कई कैदियों के साथ ही रखा गया। ज्यादातर वे अरब थे। देखते ही उन्होंने बत्तीसी चमकाकर पूछा, "क्या कर आये?" मैंने बता दिया कि एक अरब का काम तमाम करके आ रहा हूँ। इस पर कुछ देर के लिए उनके मुँह बन्द हो गये। लेकिन अब रात भी होने लगी थी। एक ने मुझे सोनेवाले गद्दे को बिछाने का तरीका सिखाया। ये लोग गद्दे के एक सिरे को गोल-गोल मोड़कर एक तरह की मसनद जैसी बना लेते हैं। सारी रात मुझे अपने चेहरे पर खटमल रेंगते महसूस होते रहे।

कुछ दिनों बाद मुझे अकेली कोठरी में रख दिया गया। यहाँ कब्जे के सहारे दीवाल से झूलते तख्ते पर सोने का इन्तज़ाम था। सामान के नाम पर यहाँ पाखाने की बाल्टी और टीन का तसला, बस, ये ही दो चीज़ें थीं। जेल ज़रा ऊँची धरती पर बनी थी, इसलिए अपनी छोटी-सी खिड़की से मुझे समुद्र की झाँकी भी मिल जाती थी। एक दिन मैं छड़ें पकड़े खड़ा-खड़ा, लहरों पर नाचती धूप को आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था कि एक वार्डर ने आकर बताया, "कोई तुमसे मिलने आयी हैं।" सोचा ज़रूर मेरी ही होगी, वही थी भी।

मुलाकात के कमरे के लिए पहले एक लम्बे-से गलियारे, फिर एक ज़ीने और फिर एक और गलियारे से होकर ले जाया गया। कमरा बहुत बड़ा था। इसमें एक बड़ी-सी बाहर की ओर निकली धनुषाकार

खिड़की से होकर रोशनी आती थी। कमरा ऊँची-ऊँची लोहे की आड़ी छड़ों द्वारा तीन हिस्सों में बँटा था। छड़ों की दो जालियों के वीच करीब तीस फ़ीट खुली जगह थी। इसके इधरवाली तरफ़ कैदी रहते थे और उधर मिलनेवाले। बीच की यह जगह यों ही खाली पड़ी रहती थी, इस पर किसी का अधिकार नहीं था। मुझे उस जगह ले जाकर खड़ा कर दिया गया जहाँ एकदम सामने अपने उन्हीं धारीदार कपड़ों में मेरी खड़ी थी। मेरी तरफ़वाली छड़ों से लगे करीव वारह कैदी और खड़े थे; ज्यादातर अरव ही थे। मेरी की तरफ भी हव्शी औरतें ही थीं। होंठ भींचे खड़ी एक छोटी-सी बुढ़िया और नंगे सिरवाली मोटी-सी प्रौढ़ा के बीच में मेरी बेचारी दवी-भिची जैसे-तैसे घुसी थी। यह प्रौढ़ा बड़े हाव-भाव के साथ चेहरे बनाती चिचियाते स्वर में बोले जा रही थी। कैदियों और मुलाकातियों के वीच की इस लम्बी दूरी के कारण मुझे खुद भी अपनी आवाज़ ऊँची करनी पड़ी।

जिस समय मैंने इस कमरे में कदम रखा था उस समय मछली बाज़ार जैसी चैं-चैं सूनी दीवारों से टकराकर गूँज रही थी। खिड़की से आती धूप चारों ओर सफेद-सफेद कठोर चकाचौंध फैलाये थी। इस सबसे मेरा तो सिर चकरा उठा था। कोठरी के अँधेरे और सन्नाटे की तुलना में यहाँ की इस स्थिति का अभ्यस्त होने में मुझे कुछ समय लग गया। और कुछ देर वाद तो कमरे का एक-एक चेहरा ऐसा साफ चमकता दीखने लगा मानो कोई उन पर टॉर्च से रोशनी फेंककर दिखा रहा हो।

देखा, वीचवाली खाली जगह में दोनों ओर की जालियों से सटा जेल का एक-एक हवलदार वैठा है। यहाँ के देशी कैदी और दूसरी ओर वाले उनके सम्वन्धी आमने-सामने वाकायदा पालथी मारकर बैठ गये थे। उन्हें स्वर ऊँचा करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी, इतने शोर-शरावे में भी वे जाने कैसे फुस-फुस करके आपस में वातचीत कर लेते थे। इस प्रकार नीचे-नीचे चलती बातों की यह भनभनाहट सिरों के ऊपर खड़े होकर चलती बातों की संगत करती लगती थी। इस सबको वहुत जल्दी ही मैंने नज़र में भर लिया और मेरी की दिशा में कुछ कदम और सामने बढ़ आया। अपना साँवला चेहरा छड़ों से अड़ाये वह भरसक खुलकर

मुस्करा रही थी। इस तरह देखने में वह मुझे बड़ी सुन्दर लगी लेकिन न जाने क्यों उससे यह कहते नहीं बना।

"कहो ?" अपना स्वर बहुत ऊँचा उठाकर उसने पूछा, "क्या हाल हैं ? अच्छे तो हो न ? ज़रूरत की सारी चीज़ें हैं या नहीं ?"

"हाँ, हाँ, मुझे जो चाहिए सब है।"

कुछ देर हममें से कोई कुछ नहीं बोला। मेरी मुस्कराती रही। मुटल्ली औरत मेरी बगल में खड़े एक कैदी को सम्बोधित करके चीखे चली जा रही थी। आदमी लम्बा, गोरा और खूबसूरत-सा और सम्भवतः उसका पति ही था।

वह चिल्लाकर कह रही थी, "जैनी उसे रखने को तैयार नहीं है। देखो न, कितनी बुरी बात है।" आदमी ने कहा, "हाँ, और देखो, मैंने उससे यह भी कहा कि तुम जेल से बाहर आते ही उसे ले लोगे। लेकिन बन्दी, सुनकर ही नहीं देती।"

उसी खाली जगह के पार से मेरी ने चिल्लाकर बताया, "रेमण्ड ने हार्दिक शुभकामनाएँ भेजी हैं।" मैंने कहा, "धन्यवाद।" लेकिन मेरी की आवाज़ पड़ोसी के प्रश्न के नीचे दब गयी, "वह स्वस्थ तो है न ?" मुटल्ली औरत हँस पड़ी, "स्वस्थ ? अरे, उसे क्या हुआ है ? साक्षात् स्वास्थ्य की मूर्ति है।"

इस सारे समय मेरे बायीं ओर खड़ा, पतले-पतले लड़कियों-जैसे हाथों वाला छोकरा मुँह से एक शब्द नहीं बोला। देखा, उसकी अपलक निगाहें सामनेवाली छोटी-सी बुढ़िया पर टिकी हैं और उधर वह भी बड़ी भावाकुल ललक से एकटक इसे देखे जा रही है। मगर शीघ्र ही मुझे अपनी निगाहें उधर से हटा लेनी पड़ीं। मेरी चिल्लाकर कह रही थी, "हमें उम्मीद का सहारा नहीं छोड़ना चाहिए।"

मैंने जवाब दिया, "बिल्कुल नहीं।" मेरी अनझिप निगाहें उसके कन्धों पर पड़ीं तो अचानक मन में बड़े जोर से आया कि इन महीन कपड़ों में उन्हें कसकर भींच लूँ। उनकी सुडौल गठन और कपड़ों की रेशमी-बुनावट मुझे बेबस अपनी ओर मोहकर खींचे ले रही थी और मन-ही-मन ऐसा लग रहा था कि 'मेरी' जिस उम्मीद की बात कह रही

है, वह कहीं-न-कहीं इनसे जुड़ी है। सोचता हूँ, ऐसी ही बात उसके मन में भी थी, तभी तो वह मेरी आँखों में आँखें डाले मुस्कराये चली जा रही थी।

"तुम देखना, सब ठीक हो जायेगा। फिर हम लोग शादी कर लेंगे।"

मुझे उसके सारे शरीर में केवल उसके दाँतों की चमक और आँखों के चारों ओर की झुर्रियाँ ही दिखायी दे रही थीं। पूछा, "सचमुच, तुम यही सोचती हो न ?" मगर यह बात कहने का प्रमुख कारण और कुछ नहीं, बस यही था कि जवाब में कुछ-न-कुछ तो मुझे भी बोलना ही था।

उसी ऊँची आवाज़ में उसने जल्दी-जल्दी बातों की झड़ी लगा दी। "हाँ, हाँ, तुम छूट जाओगे। फिर हम लोग उसी तरह हर रविवार को नहाने जाया करेंगे।"

मेरी की पासवाली औरत अभी ऊँचे स्वर में रोते-रोते पति को बता रही थी कि वह जेल के दफ़्तर में उसके लिए एक टोकरी रख आयी है। फिर उस टोकरी में जो-जो लायी थी उसकी सूची बताकर बोली, "ध्यान रखना ! खूब होशियारी से देख लेना। कई चीजें बहुत कीमती हैं।" मेरे दूसरी ओर वाला छोकरा और उसकी माँ अभी तक उन्हीं विषादभरी उदास आँखों से एक-दूसरे को देखे जा रहे थे और हमारे नीचे बैठे अरब लोगों की बातें उसी निर्बाध और एकरस भाव से चली जा रही थीं। लगता था, खिड़की के बाहर रोशनी की बाढ़-जैसी उमड़ आयी है और छन-छनकर भीतर चली आ रही है। जो लोग रोशनी के सामने पड़ते थे उनके चेहरे बेहद पीले और तेल-मालिश किये लगते थे।

मेरा जी मितलाने-सा लगा और मन हुआ बाहर निकल जाऊँ। आस-पास की ये रन्दा चलाती छीलती-सी आवाज़ें कानों को नोच रही थीं। मगर साथ ही यह भी मन था कि मेरी के साथ रहने के सुख को जितना अधिक-से-अधिक बनाये रखा जा सके, बनाये रहूँ। इस सारे शोर-शराबे में एक क्षण की भी फाँक या दरार नहीं थी—वही लगातार चलती चीख-पुकार, बातचीत और नीचे दबे गले में निरन्तर आती-जाती बुदबुदाहट। इस सारे प्रवाह में मौन का अगर कोई द्वीप था, तो वह था उस छोकरे और उसकी माँ का बिना कुछ बोले-चाले आपस में एक-दूसरे

को आँखों से पीते जाना।

इसके बाद एक-एक करके अरब कैदी हटा लिये गये। जब पहला कैदी गया तो सब-के-सब एकदम चुप हो गये। छोटी बुढ़िया छड़ से चिपककर यों ही खड़ी थी कि वॉर्डर ने उसके बेटे के कन्धे पर हाथ रखा। लड़के ने पुकारकर कहा, "फिर मिलेंगे अम्मा।" बुढ़िया ने छड़ों से हाथ निकाला और बहुत हल्के से ज़रा-सा हिलाकर विदा दे दी।

उसके हटते ही, हाथ में टोप लिये उसकी जगह एक दूसरा आदमी आ खड़ा हुआ। मेरे पासवाली खाली जगह पर भी दूसरा कैदी आ गया और दोनों ने अन्धाधुन्ध बातचीत शुरू कर दी। हाँ, उतने ऊँचे स्वर में ये नहीं बोल रहे थे, क्योंकि कमरा अब अपेक्षाकृत शान्त हो गया था। कोई आकर मेरी दाहिनी ओर वाले आदमी को बुला ले गया। पत्नी ने खूब ज़ोर से चिल्लाकर कहा, "और हाँ, सुनो, अपनी देखभाल रखना। कुछ उल्टा-सीधा मत करना।" लगता था कि उसे यही पता नहीं था कि अब उतने ज़ोर से बोलने की ज़रूरत नहीं है।

इसके बाद आया मेरा नम्बर। मेरी ने उँगलियाँ चूमकर झटके से मेरी ओर चुम्बन फेंका। बाहर जाते हुए मैं मुड़-मुड़कर उसे देखता रहा। वह बिना हिले-डुले खड़ी रही···उसका चेहरा यों ही छड़ों से सटा रहा ···होंठ उसी कसी-कसाई ऐंठी मुस्कराहट में ज़रा से खुले रहे···

इसके बाद बहुत जल्दी ही मुझे उसका खत मिला। और तभी इस तरह की बात शुरू हुई, जिसके बारे में बोलना मुझे कभी अच्छा नहीं लगता। इस तरह की बातें खास तौर पर भयानक या कष्टप्रद ही हों, ऐसा नहीं है। मैं अपने को तीसमार खाँ नहीं बताना चाहता, फिर भी यह सच है कि दूसरों को देखते हुए मैंने कम ही कष्ट पाया। मगर शुरू के दिनों की जिस एक बात से मैं सचमुच तंग आ गया था—वह थी, मेरी स्वतन्त्र आदमी के ढंग से सोचने की आदत। मसलन, अचानक धुन सवार हो जाती कि समुद्र-तट पर चला जाऊँ और पानी में खूब तैरूँ।···और जब अपने पैरों पर छोटी-छोटी लहरों की छपक्-छपक्···छलाँग लगाकर आगे बढ़ते समय शरीर पर पानी का मृदुल-कोमल स्पर्श···और सागर में जाकर मिलनेवाले सुख और सन्तोष की झुरझुरी को मैं कल्पना की

आँखों के आगे साकार कर लेता तो अपनी कोठरी का सँकरापन, अधिक क्रूर और कठोर लगने लगता।

खैर, यह हालत कुछ ही महीने रही। बाद में धीरे-धीरे मेरा सोचने का ढंग कैदियों-जैसा होता चला गया। मैं मन-ही-मन या तो खुले चौक में टहलने के समय की या अपने वकील साहब के आने की राह देखा करता। इसके अलावा बाकी वक्त के लिए भी मैंने एक ऐसा तरीका खोज निकाला था जो सचमुच बड़ा सुन्दर साबित हुआ। अक्सर मैं सोचा करता हूँ कि मान लो कभी ऐसी मजबूरी आ जाये कि मुझे किसी ठूठ की खोतर में रहना पड़े और ऊपर आकाश-खण्ड को देखते रहने के सिवा करने को पास में कुछ काम न हो। उस हालत में भी तो मैं अपने को किसी-न-किसी तरह उस स्थिति का अभ्यस्त करूंगा ही। आहिस्ते-आहिस्ते वहीं मन रमाऊँगा···आजकल मैं प्रतीक्षा करता हूँ कि देखें इस बार वकील साहब कौन-सी अजब और बेढंगी टाई लगाकर आते हैं···या जिस तरह एक दूसरी दुनिया में रहते हुए, मैं मेरी के साथ के प्यार के जादू की धैर्य-पूर्वक राह देखता हूँ···उसी तरह वहाँ बैठा-बैठा भी देखा करूँगा कि अब चिड़ियाँ गुजरेंगी···अब बादल तैरते हुए आयेंगे···यहाँ पेड़ के खोतर में तो बन्द नहीं हूँ कम-से-कम। धीरे-धीरे आदमी को सब आदत पड़ जाती है। मुझे याद है यह माँ का तकिया-कलाम था, वे हर समय कहा करती थीं।

खैर, इतना आगे जाकर सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ी। पहले महीने ज़रूर नानी याद आ गयी। लेकिन उन दिनों को निकालने के लिए मुझे जो प्रयत्न करना पड़ा, समझिए, उसी ने पार लगा दिया। मसलन, औरत की चाह मुझे अन्धा बना देती थी और उम्र के देखते हुए यह बहुत अस्वाभाविक भी नहीं था। हाँ, उसके लिए मेरी की ही तस्वीर मेरे दिमाग में आती हो, ऐसा कुछ नहीं था। मेरे ऊपर तो जब यह भूत सवार होता, तो कभी इस औरत का खयाल आता, कभी उसका; जिन-जिनसे मैंने सम्भोग किया था, कभी एक साथ वे सारी औरतें सामने आ खड़ी होतीं, कभी वे परिस्थितियाँ आँखों के आगे आ जातीं, जिनमें मैंने उन्हें प्यार किया था। यहाँ तक कि उन सारे चेहरों, मेरी पुरानी वासना के

प्रेतों से मेरी कोठरी भर जाती। इससे मुझे मानसिक उथल-पुथल और बेचैनी तो जरूर होती थी, लेकिन कम-से-कम समय कट जाता था।

खाने के समय रसोइयों के साथ-साथ प्रमुख जेलर भी दौरा लगाया करता था। धीरे-धीरे मेरी उससे खासी दोस्ती हो गयी। औरतोंवाली बात असल में उसी ने छेड़ी थी। एक बार बोला, 'यहाँ लोग इसी बात को लेकर सबसे ज़्यादा रोते हैं...।' मैंने भी कहा कि खुद मैं भी वैसी ही ज़रूरत महसूस कर रहा हूँ। मैंने यह भी कहा, 'एक तरह से यह है तो बड़ी ज्यादती ही...। कहावत है मरे को मारे शाह मदार...एक तो आदमी यहाँ वैसे ही मरा रहता है, ऊपर से यह और...।' जेलर बोला, 'हम तो चाहते ही यही हैं। वरना आप लोगों को यहाँ रखा किसलिए जाता है?' जब मैंने कहा, 'मैं आपकी बात नहीं समझा।' तो जेलर ने बताया, 'वो सब तो आज़ादी के मज़े हैं। आज़ादी छिन जाने को ही तो दण्ड कहते हैं।' बात को इस रूप में मैंने कभी नहीं देखा था। मगर अब मैंने उसके दृष्टिकोण को भी समझा। बोला, 'हाँ, बात तो सही है वरना फिर सज़ा ही किस बात की हुई?' जेलर ने स्वीकृति में सिर हिलाया, 'और क्या! तुम इन बाकी लोगों-जैसे नहीं हो। अपनी अक्ल से भी काम ले सकते हो। ये लोग खुद नहीं सोच पाते। फिर भी ये कोई-न-कोई तरीका खोज निकालते हैं। ये लोग आपस में ही कर-करा लेते हैं।' कहकर जेलर तो मेरी कोठरी से चला गया लेकिन अगले दिन से मुझे उनसे नफरत हो गयी।

सिगरेटें न मिलना, एक दूसरी मुसीबत थी। जिस समय मुझे जेल लाया गया था, जेलवालों ने मेरी कमर-पेटी, जूतों के फीते, जेब का सामान, इत्यादि लिये सो तो लिये ही, यहाँ तक कि सिगरेटें भी नहीं छोड़ीं, मुझे अकेली कोठरी में डाला गया, उस समय भी मैंने कहा कि कम-से-कम मुझे सिगरेटें तो दे दी जायें, लेकिन बताया कि बीड़ी-सिगरेट पीने की मनाही है। शायद इससे मुझे जितना कष्ट भुगतना पड़ा उतना किसी से नहीं। पहले कुछ दिनों तो सचमुच हालत बुरी हो गयी। मैं सोनेवाले तख्ते की खपच्चियाँ उखाड़-उखाड़कर चूसा करता, सारे दिन बेहोशी और तबीयत मिचलाने का आलम छाया रहता। खोपड़ी में

ही नहीं घुसता कि आखिर, ये लोग मुझे सिगरेट क्यों नहीं पीने देते ? इससे किसी के बाप का क्या जाता है ? बाद में इसका कारण भी समझ में आ गया। यह कटौती भी सज़ा का ही एक हिस्सा थी। लेकिन जब यह बात समझ में आयी तब तक तो मेरी हुड़क ही मर गयी थी, इसलिए यह सज़ा भी मेरे लिए सज़ा नहीं रह गयी।

ऐसी-ऐसी छोटी-छोटी कमियों और कटौतियों को छोड़कर मैं बहुत नाखुश नहीं था। हाँ, सारी समस्या थी समय काटने की। खैर, बाद में जब मैंने पुरानी बातें याद करने की एक तरकीब सोच निकाली तो ऊबने-उकताने का कभी सवाल ही नहीं उठा। कभी-कभी मैं अपनी स्मरण-शक्ति को अपने फ्लैट के सोनेवाले कमरे में जुटा देता। एक कोने से शुरू करके सारे कमरे में चक्कर लगाता, बीच में जो-जो चीज़ें पड़ती जातीं उन सबको एक-एक करके याद करता जाता। पहली बार तो एक-दो मिनट में ही सारा चक्कर पूरा हो गया। मगर जब फिर-फिर इस क्रिया को दुहराया तो हर बार पहले से ज़्यादा समय लगा। मैं खास तौर से फर्नीचर की हर चीज़ को कल्पना की आँखों के आगे लाता, एक-एक चीज़ के ऊपर, या भीतर रखे हर सामान का ध्यान करता और अन्त में इन ब्यौरों के भी ब्यौरे—एक-एक भाग, गड्ढा, परत या छिला कोना और लकड़ी का वास्तविक रंग और रेशा तक याद करता। साथ ही शुरू से लेकर आखिर तक, सही क्रम से बिना एक भी चीज़ छोड़े, अपनी इस खोज की पूरी-की-पूरी सूची भी दिमाग में रखता जाता। कुछ हफ्ते बाद नतीजा यह हुआ कि अपने सोनेवाले कमरे की सूची तैयार करने में घण्टों बीत जाते। देखा, जितना-जितना मैं सोचता हूँ उतना ही प्रायः भूले या अनदेखे ब्यौरे मेरी स्मृति के पटल पर तैरते चले आते हैं—और लगता कि ये ब्यौरे तो इतने हैं कि समाप्त ही नहीं होंगे।

हाँ, इससे इतना मैं जान गया कि अगर आदमी केवल एक दिन बाहरी दुनिया का अनुभव प्राप्त कर ले तो शायद जेल में सौ साल काटना उसके लिए मुश्किल नहीं है। इतनी चीज़ें उसके पास याद करने को हो जायेंगी कि वह कभी ऊबने का नाम ही न ले। एक तरह से पूछा जाय तो यह गनीमत ही है वरना और करे क्या आदमी जेल में !

इसके बाद सोने का दौर शुरू हुआ। शुरू-शुरू में तो रात को भी ठीक से नींद नहीं आती थी और दिन में तो मैं कभी सोता ही नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे रातें सुख से कटने लगीं; यही नहीं, दिन में भी एकाध झपकी ले ही लेता। पिछले महीनों तो सचमुच चौबीस में से सोलह या अट्ठारह घण्टे पड़ा-पड़ा सोया करता। बच जाते पास में छः घण्टे, सो इनमें खाना-पीना, नित्य-क्रिया···ये स्मृतियाँ···और चेकोस्लोवाकिया वाले आदमी की कहानी···।

एक दिन गद्दे की जाँच कर रहा था कि उसके नीचे धँसा अखबार का एक टुकड़ा हाथ पड़ गया। कागज़ इतना पुराना हो गया था कि पीला पड़ गया था और उसके आर-पार दिखायी देता था। लेकिन छपे अक्षर जैसे-तैसे पढ़ लिये जाते थे। यह किसी अपराध की कहानी थी। शुरू का हिस्सा गायब था, लेकिन यह समझ में आ जाता था कि घटनास्थल चेकोस्लोवाकिया का कोई गाँव है। कोई गाँववाला अपनी किस्मत आज़माने परदेश गया। पच्चीस साल बाद काफी कमा-धमाकर, बीवी-बच्चों को साथ लिये अपने गाँव लौटा। इधर उसकी माँ और बहन, उसके गाँव में ही एक होटल चलाने लगी थीं। अचानक जाकर उन्हें चौंका देने के खयाल से इसने बीवी-बच्चे को तो दूसरी सराय में छोडा और खुद किसी दूसरे नाम से कमरा लेकर माँ के होटल में टिक गया। माँ-बहन को सपने में भी खयाल नहीं हुआ कि यह उनका भाई है, वे पहचान ही नहीं पायीं। रात को खाना खाते समय उसने अपने पास की रकम इन्हें दिखा दी। उन कम्बख्तों ने रात-ही-रात हथौड़े से उसका काम तमाम कर डाला और माल-मत्ता छीनकर लाश नदी में फेंक दी। अगले दिन उसकी बीवी आयी और उसने बिना सोचे-समझे बता दिया कि वह आदमी कौन था। अब तो, माँ ने फाँसी लगा ली और बहन कुएँ में कूद पड़ी—यह थी कहानी। इसे मैंने हज़ारों ही बार पढ़ा होगा। एक तरह से देखता तो बात बड़ी असम्भव लगती, दूसरी तरह से सोचने पर काफी तर्कसंगत दिखायी देती। बहरहाल, मेरे हिसाब से तो उस आदमी ने जान-बूझकर मुसीबत मोल ली। इस तरह की बेवकूफी आदमी करे ही क्यों ?

सो, नींद के इन लम्बे-लम्बे दौरों में, अपनी पुरानी बातों को याद

करने और अखबार के कहानीवाले टुकड़े को पढ़ने में अँधेरे और उजाले के ज्वार-भाटे आते-जाते रहे, समय बीतता गया। मैंने पढ़ा ज़रूर था कि जेल में आदमी समय का ज्ञान नहीं रख पाता, लेकिन मेरे लिए इसका कोई निश्चित अर्थ कभी नहीं रहा। कभी मेरी समझ में नहीं आता था कि दिन, एक साथ ही लम्बा और छोटा कैसे हो सकता है ? अच्छा मान लो, आदमी को एक-एक पल करके सारा समय काटना पड़े तो शायद दिन बहुत लम्बा लगने भी लगे, लेकिन फिर भी आखिर इतना लम्बा कैसे हो जायेगा कि उसके खत्म होते-न-होते दूसरा दिन शुरू हो जाये ? दिनों को सचमुच अभी तक मैं इस रूप में नहीं ग्रहण कर पाया था, 'बीता कल' और 'आनेवाला कल' अभी भी मेरे लिए सार्थक शब्द थे।

एक दिन सुबह-सुबह जब वॉर्डर ने बताया कि मुझे जेल में छः महीने हो चुके हैं, तो मैंने मान लिया। लेकिन इन शब्दों का मेरे निकट कोई अर्थ नहीं था। कोठरी में आने से लेकर अब तक मेरे लिए तो एक ही दिन था और इस सारे समय मैं तो एक ही काम में लगा रहा था।

जेलर चला गया तो मैंने अपना पानी पीने का तामलोट खूब घिस-घिसकर चमकाया और उसमें अपने चेहरे को गौर से देखने लगा। चेहरे पर भयानक गम्भीर-भाव छाया था। मैंने मुस्कराने की कोशिश की, लेकिन कोई अन्तर नहीं पड़ा। तामलोट को आड़ा-तिरछा करके कई तरह से देखा लेकिन चेहरे पर वही मनहूस उदासी बरसती रही।

साँझ घिर आयी थी। इस क्षण को मैं 'बेनाम क्षण' कहता हूँ। काश, उस दिन के इस क्षण के बारे में चुप ही रहता। जेल के कमरे-कमरे और कोठरी-कोठरी से सन्ध्या के स्वर उदास और मनहूस जलूसों-जैसे चुपचाप ऊपर उठ रहे थे। मैं जंगले पर जाकर खड़ा हो गया और डूबती किरणों में फिर एक बार अपने चेहरे की परछाईं को देखने लगा। वही पहले जैसा-संजीदा चेहरा था। इस समय मैं खुद भीतर से संजीदा हो आया था, इसलिए इस बार चौंका नहीं। लेकिन ठीक उसी समय कानों में वह स्वर सुनायी पड़ा जो महीनों से नहीं सुना था—कोई बोल रहा था। नहीं, मुझे कतई गलतफहमी नहीं हुई थी, यह मेरे अपने ही बोलने की आवाज़ थी। पिछले कई दिनों से जो स्वर लगातार मेरे कानों में

बज रहा था उसे मैंने इस क्षण पहचान लिया था। अच्छा, तो अब समझा, इन सारे दिनों में अपने-आपसे ही बातें करता रहा हूँ।

और तभी कभी किसी की कही एक बात अचानक याद हो आयी। माँ की अन्त्येष्टि के समय नर्स ने कोई बात कही थी···ना, अब तो कोई रास्ता नहीं रह गया···कैसी होती हैं जेल की वे उदास शामें··· कैसा महसूस होता है वह समय, दूसरा कोई कहाँ कल्पना कर सकता है?

तीन

सब मिलाकर, यह तो नहीं कहूँगा कि वे सारे महीने रेंग-रेंगकर ही बीते, हाँ, इतना ज़रूर है कि पहली गरमियों के बीतने का ज्ञान होते-न-होते दूसरी गर्मियाँ आ लगी थीं। और यह भी मुझे लगने लगा था कि गर्म दिनों के शुरू होते ही मेरी किस्मत शर्तिया कुछ-न-कुछ गुल खिलायेगी। मेरे मुकदमे की तारीख असाइज़ अदालत में आखिरी सेशंस में पड़ी थी। इस सेशन को जून में ही किसी समय खत्म होना था···

मुकदमे के सुनवाईवाले दिन जमकर धूप निकली थी। वकील साहब ने बताया था कि मुकदमा दो-तीन दिन से ज़्यादा नहीं लेगा। बोले, "सुनते हैं, अदालत जल्दी-से-जल्दी तुम्हारे मुकदमे को निपटायेगी क्योंकि इस सेशन के मुकदमों की सूची में यह सबसे महत्त्वपूर्ण मुकदमों में नहीं है। तुम्हारे बाद ही पितृ-हत्या का एक मुकदमा है, असली वक्त अदालत को उसमें लगेगा।"

सुबह साढ़े सात बजे मुझे लेनेवाले आ गये और कैदियों की गाड़ी में बैठाकर अदालत ले आये। दो सिपाही मुझे दोनों तरफ से पकड़कर एक छोटे-से कमरे में लाये। कमरा अँधेरा था और गंधाता था। हम लोग एक दरवाज़े के पास जा बैठे। दरवाज़े से बोलने की आवाज़ें, चीख-पुकारें और फर्श पर कुर्सियों के घिसटने के स्वर आ रहे थे। इस एक-

दूसरे में गडमड शोर-शराबे से मुझे किसी कस्बे के जलसे का खयाल आता था। ऐसा लगता था—जलसे में संगीत का कार्यक्रम हो चुका है और अब हॉल में नाच के लिए फर्श खाली किया जा रहा है।

एक सिपाही ने बताया कि अभी तक जज साहब नहीं आये हैं। उसने मुझे एक सिगरेट पीने को दी तो मैंने इनकार कर दिया। कुछ देर बाद उसने पूछा कि मैं घबरा तो नहीं रहा। मैं बोला, "नहीं तो। उलटे मुझे तो उत्सुकता हो रही है कि एक मुकदमा देखने को मिलेगा। मैंने कभी देखा भी नहीं है।"

"हाँ, हो सकता है।" दूसरे सिपाही ने कहा, "लेकिन एक-दो घण्टे में ही जी भर जाता है।"

टिर्रर—टिर्रर—टिर्रर—थोड़ी देर बाद कमरे में बिजली की घण्टी बज उठी। सिपाहियों ने मेरी हथकड़ियाँ उतारीं, दरवाज़ा खोला और कैदियों के कठघरे की ओर ले चले।

कचहरी में खचाखच भीड़ भरी थी। किवाड़ों की हवा-रोशनीवाली पट्टियाँ झुकी हुई थीं, लेकिन रोशनी दरारों से छन-छनकर भीतर आ रही थी। हवा उमस से तपी थी। खिड़कियाँ बन्द थीं। मैं बैठ गया तो सिपाही मेरी कुर्सी के दोनों ओर तनकर खड़े हो गये

कहीं अब जाकर मैंने देखा कि ठीक सामने एक कतार में कुछ चेहरे मुझे घूरकर देख रहे हैं। अन्दाज़ा लगाया, जूरी हैं। लेकिन जाने क्यों, मैंने अलग-अलग बैठे व्यक्तियों के रूप में उन्हें नहीं देखा। ट्राम में चढ़ने के साथ ही किसी को लगे कि सामनेवाली सीट के लोग उसकी वेश-भूषा में कुछ मनोरंजक और मज़ाकिया पाने की उम्मीद से लगातार उसकी ओर देखे चले जा रहे हैं, तो उस समय उसे जैसा कुछ महसूस होता है, वैसा ही मुझे लग रहा था। में जानता हूँ, उपमा निहायत बेतुकी है क्योंकि ये लोग किसी हास्यास्पद बात की नहीं, अपराधी मनोवृत्ति के लक्षणों की खोज में मेरी ओर देख रहे थे। बहरहाल, फर्क ज़्यादा नहीं था। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगा।

भीड़ और हवा की घुटन के कारण मुझे कुछ-कुछ चक्कर-से आने लगे। कचहरी के कमरे में निगाह घुमायी तो एक भी पहचाना चेहरा

दिखायी न दिया। पहले तो यही विश्वास नहीं हुआ कि इतने सारे लोग मेरे लिए ही जमा हुए हैं। साधारणत: किसी ने मेरी तरफ कभी विशेष ध्यान नहीं दिया था, अब यों रातोंरात सबकी दिलचस्पी का केन्द्र बन जाने में कैसा अजीब-अजीब लगता था। "गजब की भीड़ है।" मैंने अपने बायीं ओर के सिपाही से कहा तो उसने बताया कि यह सब अखबारों की कारिस्तानी है। जूरियों के बैठने की जगह के ठीक नीचे बैठे कुछ लोगों की ओर इशारा करके वह बोला, "वो बैठे तो हैं।" "कौन ?" मैंने पूछा। उसने कहा, "पत्रकार लोग।" फिर उसने यह भी बताया कि उन्हीं में उसका एक पुराना दोस्त भी बैठा है।

ज़रा देर बाद ही उसके बताये हुए आदमी ने हमारी ओर देखा और चबूतरे पर आकर सिपाही के साथ बड़े तपाक् से हाथ मिलाया। पत्रकार अधेड़-सा आदमी था और शक्ल से गम्भीर लगता था, लेकिन व्यवहार उसका बड़ा मधुर था। तभी मैंने देखा कि कमरे में बैठे सारे आदमी एक-दूसरे को नमस्कार कर रहे हैं, बातचीत कर रहे हैं और अलग-अलग दलों में बँट गये हैं। सच पूछो तो उनका सारा तौर-तरीका अदालत का कम, क्लब का-सा अधिक लगता था, जहाँ हर आदमी अपनी हैसियत और रुचि के अनुसार बेतकल्लुफी और बेफिक्री महसूस करने लगता है। बेशक, यही कारण रहा होगा कि मैं अपने को दाल-भात में मूसलचन्द या अनिमन्त्रित, जबर्दस्ती घुस आनेवाले, मेहमान-जैसा महसूस करने लगा था।

खैर, पत्रकार ने बड़े हँस-हँसकर मुझसे बातें कीं। कहा, "उम्मीद है सब ठीक-ठाक हो जायेगा।" मैंने उसे धन्यवाद दिया तो वह मुस्कराकर कहने लगा, "जानते हैं, हम आपके बारे में लगातार कुछ-न-कुछ लेख-समाचार प्रकाशित करते रहे हैं ! गरमियों के दिनों में तो यों ही हमेशा सामग्री का रोना रहता है, सो आपके और आपके बादवाले मुकदमे को छोड़कर समाचारों की काफी तंगी थी। इस दूसरे मुकदमे के बारे में तो सुन ही लिया होगा···पितृ-हत्या का मामला है···।"

उसने संवाददाताओं की मेज़ पर बैठे दल में से एक ठिगने, काला-काला चश्मा डाटे गोल-मटोल आदमी को (जिसे देखकर खूब खिलाये-

पिलाये नेवले की याद आती थी) दिखाकर कहा, "वो साहब पैरिस के एक दैनिक के विशेष संवाददाता हैं। खास तौर से आपके लिए तो ये नहीं आये लेकिन अखबारवालों ने इनसे कहा है कि आपका मुकदमा देख लें, यों उस पितृ-हत्यावाले मुकदमे के लिए भेजे गये हैं।"

बात जबान की नोक पर आकर रह गयी कि 'उनकी बड़ी मेहरबानी है।' लेकिन तभी खयाल आया, बात बेहूदी लगेगी। बड़ी आत्मीयता के ढंग से हाथ मिलाकर वह हमारे पास से चला गया। इसके बाद थोड़ी देर कुछ नहीं हुआ।

तभी, चोगा-चढ़ाये, अपने कुछ साथियों के साथ वकील साहब ने हड़-बड़ाते हुए प्रवेश किया। पत्रकारों की मेज़ के पास जाकर उन्होंने संवाद-दाताओं से हाथ मिलाये। ऊपर से बड़े बेतकल्लुफ और बेफिक्र-से दीखते ये लोग हँसने और गप्पें मारने लगे। किर्रर-किर्रर! तभी एक तीखी-सी घण्टी बज उठी और सब-के-सब अपने-अपने स्थानों पर जा बैठे। वकील साहब ने मेरे पास आकर हाथ मिलाया और समझाया कि, "जहाँ तक बन पड़े जवाब कम-से-कम शब्दों में देना। अपनी तरफ से कुछ मत बताने लगना। मुझ पर भरोसा रखोगे तो बेड़ा पार हो जायेगा···।"

बायीं तरफ कुरसी खिसकने की आवाज़ हुई और बिना कमानियों वाला चश्मा लगाये, एक लम्बा पतला-दुबला-सा व्यक्ति अपने लाल चोगे की तहें और सलवटें ठीक करते हुए कुरसी पर आ बैठा। मैं समझ गया कि सरकारी वकील है। अदालत के पेशकार ने घोषणा की कि 'माननीय जज महोदय पधार रहे हैं।' और ठीक उसी समय ऊपर के दो बड़े-बड़े पंखे भनन-भनन करते चल पड़े। तीन जजों ने बगल में थैले दबाये अदा-लत के कमरे में प्रवेश किया—दो काले कपड़े पहने थे और एक लाल-सुर्ख। तीनों फुरती से चलते हुए फर्श से कई फीट ऊँची बनी 'बेंच' के पास जा पहुँचे। सुर्ख कपड़ोंवाला बीच में, ऊँची पीठ की कुरसी पर बैठ गया। उसने अपनी सरकारी टोपी उतारकर मेज़ पर रखी और गंजी चँदिया पर रूमाल फेरकर ऊँचे स्वर में बताया कि अब मुकदमे की सुन-वाई शुरू होती है।

पत्रकारों ने अपने-अपने फाउण्टेनपेन खोल लिये। एक सिरे से सबके

चेहरों पर हल्की व्यंग्य-भरी उदासीनता का भाव था। हाँ, भूरे फलालेन का सूट और नीली टाई पहने उनमें एक पत्रकार ज़रूर ऐसा था जो कलम मेज़ पर रखे मुझे अपलक घूरे जा रहा था। शक्ल से अपने बाकी साथियों से काफी कम उम्र का लगता था। चेहरा सीधा-सादा निर्विशेष···लेकिन इस समय ज़रा-सा सख्त। जिस चीज़ ने मुझे बाँध लिया वे थीं उसकी आँखें; उदास-उदास, पीली निर्मल आँखें मुझ पर ज़रूर टिकी थीं, लेकिन उनसे किसी विशेष भाव की व्यंजना नहीं हो रही थी। पल-भर के लिए बड़ी अद्भुत-सी बात मन में उभरी, मानो वे आँखें मेरी अपनी ही आँखें हैं और मैं खुद अपने को तोल रहा हूँ। एक तो यों ही अदालती कार्यवाही से कोरा, फिर दूसरे, यह भाव भी एक कारण था कि शुरू में जो कुछ होता रहा ठीक-ठीक मेरी समझ में नहीं आया, कि कैसे जूरियों ने आपस में अपना-अपना काम और ज़िम्मेदारी बाँटी, कैसे प्रधान-जज ने सरकारी वकील अर्थात् जूरियों के प्रतिनिधि और मेरे वकील साहब से दुनियाभर के सवालात किये (जब-जब मेरे वकील साहब बोलते, सारे-के-सारे जूरियों के सिर जजों की तरफ घूम जाते), कैसे एक ही साँस में अभियोग-पत्र पढ़ा गया (बीच-बीच में मैंने कुछ परिचित स्थानों और व्यक्तियों के नाम ज़रूर पकड़े), कैसे इसके बाद मेरे वकील से कुछ और सवाल किये गये, इस सबको मैंने कुछ सुना-समझा, कुछ नहीं।

इसके बाद जज साहब ने फरमाया कि अब अदालत गवाहों की सूची पढ़कर सुनायेगी। पेशकार ने नाम पढ़े। उनमें कुछ को सुनकर तो मैं चकरा उठा। अभी तक सामनेवाली भीड़ मेरे लिए चेहरों के धुंधले-धुँधले धब्बों से अधिक नहीं थी। लेकिन देखा कि अब एक-एक करके उस भीड़ में से ही रेमण्ड, मैसन, सलामानो, आश्रम का चौकीदार, बूढ़ा पीरे और मेरी, सभी उठ-उठकर खड़े होने लगे। इन सबके पीछे-पीछे बगल के दरवाज़े से बाहर जाते हुए मेरी ने बहुत हौले से काँपता निर्जीव हाथ मुझे लक्ष्य करके हिलाया। सुना, आखिरी नाम सैलेस्ते का पुकारा जा रहा है तो निहायत ही ताज्जुब हुआ कि इनमें से कोई भी पहले मुझे नहीं दीखा। सैलेस्ते उठा तो उसकी बगल में बैठी वही विचित्र ठिगनी–

सी औरत नजर आयी जिसने रेस्त्राँ में मेरी मेज़ पर वैठकर खाना खाया था। वही मर्दाना कोट और चुस्त, दृढ़, निर्णयात्मक अन्दाज़। देखा, उसकी निगाहें मुझ पर ही जमी थीं। लेकिन उसके तौर-तरीके पर सोचने, आश्चर्य करने का समय नहीं मिला। जज साहव फिर वोलने लगे थे।

उन्होंने वताया कि अव मुकदमे की असली कार्यवाही शुरू होगी। कहा, शायद यह वताने की उन्हें ज़रूरत नहीं है कि वे चाहते हैं, जनता अपने अच्छे-वुरे, कैसे भी भावों का प्रदर्शन न करे। जज तो केवल सारी कार्यवाही की देख-रेख करने के लिए हैं—एक तरह से कहिए मध्यस्थ हैं। इसलिए मुकदमे के प्रति उनका रुख निहायत ही तटस्थ रहेगा। जो भी फैसला जूरी महोदय देंगे, उसे ही वे अपने शब्दों में न्याय की दृष्टि से जनता के सामने रख देंगे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि अन्त में लोग विना किसी प्रकार का कतई शोर-शरावा किये शान्तिपूर्वक वाहर निकलेंगे।

दिन का तपना वढ़ता गया। जनता में से कुछ अखबारों से हवा कर रहे थे। कागज़ों के मुड़ने की खड़खड़ाहट तो सारे समय होती रही। प्रधान जज का इशारा पाकर पेशकार मूँज के वुने तीन पंखे ले आया। तीनों जज तुरन्त उनसे हवा करने लगे।

झट, मुझसे सवाल-जवाव शुरू हो गये। जज साहव ने न केवल वड़े शान्त भाव से, वल्कि मुझे लगा वड़ी आत्मीयता दरसाते हुए सवाल पूछे। हज़ारवीं वार मुझसे फिर वही नाम-पता, वल्दियत पूछी गयी। इस खाना-पूरी से मैं आजिज़ आ गया था; लेकिन फिर मन में सोचा, यह सव वहुत स्वाभाविक और ज़रूरी है। किसी गलत आदमी पर मुकदमा चला देना अदालत के लिए कितने शर्म और अफसोस की वात है।

इसके वाद जज ने मेरे सारे कारनामों का चिट्ठा पढ़ना शुरू किया। हर दूसरे-तीसरे वाक्य पर मुझसे पूछने के लिए ठहर जाते। "क्यों, ठीक है न?" और इस पर मैं हर वार कहता, "जी हाँ, साहव।" वकील साहव ने यही कहने को कहा था। जज ज़रा-ज़रा-सी वाल की खाल निकाल रहे थे, इसलिए यह पुराण काफी लम्वा चला। इस वीच, पत्रकार व्यस्त भाव से जल्दी-जल्दी लिखते रहे। लेकिन मुझे कभी तो सवसे

छोटे पत्रकार की अपने पर टिकी निगाहों का खयाल हो आता, कभी उस 'चावी-भरी कठपुतली' औरत की नज़रें याद आ जातीं। वहरहाल, जूरी महोदय लाल चोगेवाले जज को लगातार देखे जा रहे थे। मुझे ट्राम में बैठी सवारियों की कतार फिर याद हो आयी। तभी जज साहव ज़रा-सा खाँसे और फाइल के कुछ पन्ने पलटकर चेहरे पर पंखे से हवा करते-करते गम्भीर भाव से मुझसे वोले :

"अव मैं कुछ ऐसी वातें लेना चाहूँगा जो ऊपर से देखने में चाहे मुकदमे से वाहर लगती हों लेकिन वास्तव में उनका वहुत गहरा सम्वन्ध है।" मैं भाँप गया कि हो न हो अव यह माँ के वारे में कुछ कहेगा, साथ ही यह भी सोच डाला कि अगर इसने माँ को लेकर कुछ कहा तो मुझे कैसा बुरा लगेगा। जज का पहला सवाल ही यह हुआ कि मैंने अपनी माँ को आश्रम क्यों भेजा ? मैंने वताया कि कारण बिल्कुल सीधा है। घर पर उनकी ठीक से देख-भाल हो, इतना पैसा मेरे पास नहीं था। जज ने पूछा कि माँ के वियोग से मुझे दुख हुआ या नहीं ? मैंने फिर अपनी वात खुलासा की कि मुझे या माँ को आपस में एक-दूसरे से या हम दोनों की किसी तीसरे से इस वारे में कतई किसी सहारे की उम्मीद नहीं थी, इसलिए हम दोनों ने आसानी से इसे मान लिया। इसके वाद जज ने कहा कि उन्हें अव इस वारे में कुछ नहीं पूछना। उन्होंने सरकारी वकील से पूछा कि क्या इस मौके पर उसके खयाल से कुछ और सवाल करना ज़रूरी लगता है ?

सरकारी वकील ने बिना मेरी ओर देखे, वल्कि मेरी तरफ आधी पीठ मोड़कर कहा कि अगर अदालत आज्ञा दे तो वह जानना चाहता है कि क्या मैं अरव को मारने के इरादे से ही दुवारा झरने पर लौटकर गया था ? जव मैंने कहा, 'नहीं' तो सरकारी वकील ने फिर पूछा कि तव फिर अपने साथ रिवॉल्वर ले जाने का उद्देश्य क्या था और क्यों मैं फिर खास उसी जगह पहुँचा ? मैंने अपने जवाव में इसे केवल संयोग की वात कहा। तव सरकारी वकील बड़े दुष्ट लहजे में वोला, "वहुत ठीक, वस, इस वक्त इतना ही काफी है।"

इसके वाद क्या हुआ, ठीक से मेरी समझ में नहीं आया। हाँ, कुछ

देर सरकारी वकील मेरे वकील और 'वेंच' के बीच कुछ चख-चख होती रही। प्रधान जज ने घोषणा की कि अब अदालत उठेगी। गवाहियाँ दोपहर वाद होंगी, तब तक के लिए कार्यवाही मुल्तवी की जाती है।

यह क्या हुआ, इसे समझूँ-समझूँ कि मुझे ठेलकर जेल की गाड़ी में ला बैठाया गया। वापस जेल आया तो दोपहर का खाना मिला। इस सबने मुझे कितना थका डाला है, अभी यह महसूस ही कर पाया था कि फिर बुलावा आ गया। वही कमरा…सामने वही चेहरे…फिर वही सब-कुछ नये सिरे से शुरू हुआ। हाँ, इस बीच गरमी वेहद बढ़ गयी थी और जाने क्या चमत्कार हुआ था कि जूरियों से लेकर मेरे वकील, सरकारी वकील और कुछ संवाददाताओं के हाथों में भी पंखे आ गये थे। वह नौजवान और 'चावी-भरी कठपुतली' दोनों वदस्तूर अपनी-अपनी जगह विराजमान थे और उनकी आँखें, ठीक पहले की तरह, मुझ पर टिकी थीं। दोनों पंखे भी नहीं झल रहे थे।

मैंने चेहरे का पसीना पोंछा। अभी अपने बारे में होश आया ही था कि सुना गवाही के लिए आश्रम के वार्डन की पुकार मची है। वार्डन से पूछा गया कि क्या मेरी माँ को मेरे व्यवहार से कोई शिकायत थी, तो उसने कहा, "जी हाँ। लेकिन यह कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि वहाँ रहनेवाले करीव-करीव हर व्यक्ति को अपने रिश्तेदारों से शिकायत होती है।" इसलिए जज साहब ने ज़रा और खुलासा करने को कहा, "इस तरह आश्रम में भेज दिये जाने पर क्या मुजरिम की माँ उसे भला-बुरा कहती थी ?" "जी हाँ" उसने फिर वही कहा; लेकिन इस बार कोई सफाई अपने जवाव के साथ नहीं दी।

एक और सवाल के जवाब में उसने बताया, "अन्त्येष्टि के दिन इनकी निरुद्विग्नता और ठण्डापन देखकर वाकई मुझे वड़ा ताज्जुब-सा हुआ था", फिर पूछा गया कि "इसकी निरुद्विग्नता और ठण्डेपन से क्या मतलब ?" इस पर वह नीची निगाहें किये कुछ देर अपने जूतों को घूरता रहा। फिर वताने लगा, "न तो इसने अपनी माँ के शव के दर्शन की कोई इच्छा प्रकट की और न ही इसकी आँखों में एक बूंद आँसू आया और अन्त्येष्टि के वाद भी कब्र के आसपास मँडराने की वजाय यह वहाँ से

एकदम चल खड़ा हुआ। दूसरी एक और बात ने मुझे चक्कर में डाला। अण्डरटेकर का एक आदमी बताता था, इन्हें अपनी माँ की उम्र भी नहीं पता।" थोड़ी देर चुप रहकर जज ने वार्डन से पूछा कि यह जो कुछ उसने बताया है वह सब सामने कठघरे में खड़े मुजरिम के बारे में ही माना जाये न ? लगा, इस प्रश्न पर वार्डन अचकचाया। तभी जज ने कहा, "इस तरह के सवाल पूछने का कायदा है, इसलिए पूछने को मजबूर हूँ।"

सरकारी वकील से पूछा गया कि उसे तो कोई बात नहीं जाननी। उसने ऊंचे स्वर में जवाब दिया, "बिल्कुल नहीं, योर ऑनर। मुझे जो जानना था, जान लिया।" और यह कहकर जिन निगाहों से उसने मुझे देखा, उनके साथ-साथ उसके लहजे, चेहरे के विजय-भाव में कुछ ऐसी अजीब और खास बात थी कि मैं सिहर उठा। वर्षों से जो बात महसूस नहीं हुई थी वह उस क्षण लगी। और बड़ी बेहूदी-सी इच्छा हुई कि फूट-फूटकर रोने लगूँ। पहली बार अहसास हुआ कि इन सबके मन में मेरे लिए कितनी गहरी नफरत भरी है।

जूरियों और मेरे वकील को तो वार्डन से कुछ नहीं पूछना, यह जानकर जज ने चौकीदार के बयान सुने। कठघरे में कदम रखते हुए चौकीदार ने एक नज़र मुझ पर डाली, फिर निगाहें दूसरी ओर घुमा लीं। जिरह में उसने भी यही बयान दिये कि मैंने शव के दर्शन करने से इनकार कर दिया था, बैठे-बैठे सिगरेटें फूंकी थीं और विशेष कॉफी—कॅफ-ॲलाय—पी थी। पहली बार मुझे लगा कि गुस्से की एक लहर अदालत में यहाँ-से-वहाँ तक फैल गयी और तब पहले-पहल समझ में आया कि मैं अपराधी हूँ। मेरे सिगरेटें पीने और कॉफी के बारे में चौकीदार ने जो कुछ बताया था उसे दुबारा कहलवाया गया। सरकारी वकील ने घूमकर फाड़ खानेवाली निगाहों से मुझे देखा। मेरे वकील ने चौकीदार से पूछा कि मेरे साथ-साथ खुद उसने भी कॉफी पी या नहीं ? सरकारी वकील ने इस बात पर सख्त आपत्ति की। गुस्से से चिल्लाकर पूछा, "मुझे बताया जाये कि इस अदालत में मुजरिम कौन है ? कठघरे में खड़ा यह आदमी या चौकीदार ? योर ऑनर, चूंकि मेरे मित्र बचाव-पक्ष के वकील

जानते हैं कि उनके मुवक्किल के खिलाफ अकाट्य और काफी सबूत हैं, इसलिए क्या अपने खयाल से वे यों सरकारी गवाह पर कीचड़ उछालकर सबूत खराब कर लेंगे ?" बहरहाल जज ने चौकीदार से सवाल का जवाब देने को कहा।

बूढ़ा चौकीदार कुनमुनाया। फिर मुँह-ही-मुँह में बुदबुदाया, "जी हाँ, जानता हूँ कि मुझे सिगरेट नहीं पीनी चाहिए थी, लेकिन जब इन साहब ने एक टुकड़ा पेश किया तो सिर्फ लिहाज़ की खातिर मैंने ले लिया।"

जज ने इस पर मुझसे कुछ कहने को कहा। "जी नहीं," मैं बोला, "कहना बस यही है कि गवाह बिल्कुल सही कह रहा है। मैंने ही उसे सिगरेट पीने को दी—यह सच है।"

चौकीदार ने मुझे विस्मय और कृतज्ञता-जैसे भाव से देखा। फिर कुछ देर गुन-गुन करता रहा और तब हकला-हकलाकर खुद ही अपनी ओर से कहा, "थोड़ी-सी कॉफी ले लेने की बात तो मैंने ही कही थी।"

मेरे वकील साहब खुशी से उछल पड़े। बोले, "इस इकबाल की अहमियत पर जूरी महोदय गौर करें।"

झपटकर सरकारी वकील भी उठा और हमारे सिरों पर गरजकर बोला, "बिल्कुल दुरस्त, इस पर जूरी महोदय ज़रूर गौर करेंगे और इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि अनजाने या भूल से कोई तीसरा आदमी अगर मुजरिम को कॉफी का प्याला पेश कर भी देता है तो मुजरिम सामान्य शिष्टाचार-वश मना भी कर सकता है। कम-से-कम और कुछ नहीं तो उस बेचारी औरत के शव के सम्मान की खातिर ही मना कर सकता है जिसने मुजरिम को इस धरती पर जन्म दिया।"

इसके बाद चौकीदार अपनी जगह पर लौट गया।

तोमस पीरे की बारी आयी। एक अर्दली सहारा देकर उसे कठघरे तक लाया। पीरे ने कहा, "हालाँकि मैं इनकी माँ का बहुत घनिष्ठ मित्र था, लेकिन इन्हें अन्तिम संस्कार से पहले मैंने कभी नहीं देखा।" पूछा गया, "उस दिन मुजरिम का व्यवहार कैसा था ?"

पीरे ने बताया, "जी, आप तो जानते ही हैं—मैं खुद उस दिन बड़ा दुखी था। इतना ज्यादा दुखी था कि किसी तरफ ध्यान ही न दे पाया।

शायद शोक ने मुझे अन्धा कर डाला था। अपने घनिष्ठ साथी का यों चल वसना ही मेरे लिए इतना वड़ा धक्का था कि दफनाने के समय मुझे तो अपना होश ही नहीं रहा। इसलिए इस लड़के की तरफ मेरा ध्यान बिल्कुल गया ही नहीं।"

सरकारी वकील ने सवाल किया, "आप अदालत को इतना वता दें कि उस दिन मुजरिम रोया था या नहीं।" और जव पीरे ने वताया कि 'नहीं देखा' तो उसने अपनी बात पर ज़ोर देकर कहा, "यकीन है, जूरी महोदय इस बात पर गौर फरमायेंगे।"

फौरन मेरे वकील साहब उठ खड़े हुए और कड़ककर बोले, "वावा, अच्छी तरह सोच लो। कसम से कहते हो कि तुमने इन्हें एक बूंद आँसू बहाते नहीं देखा?" मुझे वकील साहब के लहजे से लगा कि वे खामखा ही वेचारे को धमका रहे हैं।

पीरे ने जवाव दिया, "नहीं।"

ही-ही-ही-ही—कुछ लोग बेहूदे ढंग से हँस पड़े। मेरे वकील ने झटके-से अपने चोगे की आस्तीन पीछे खींची और तड़पकर कहा, "यह तरीका है सारा मुकदमा चलाने का। सचाई को पाने और उजगार करने की किसी को कोई चिन्ता ही नहीं है।"

सरकारी वकील ने इस कथन पर कोई कान नहीं दिया और उदासीनता का भाव दिखाते हुए पेंसिल से वकालतनामे के कवर पर धीरे-धीरे ठक्-ठक् करता रहा।

पाँच मिनट की छुट्टी हो गयी। इस बीच मेरे वकील साहब ने आकर वताया कि मुकदमा वास्तव में बड़े अच्छे ढंग से वढ़ रहा है। इसके वाद सेलस्ते की पुकार हुई। बताया गया कि वह बचाव-पक्ष का गवाह है। बचाव-पक्ष का अर्थ होता था मैं।

सेलेस्ते रह-रहकर मेरी ओर देख लेता और गवाही देते हुए दोनों हाथों से अपना पनामा हैट मसलता जाता। इस समय आप अपना सबसे अच्छा सूट डाटे थे। पहले एक रविवार को इसी सूट में आप मेरे साथ घुड़दौड़ में गये थे। मगर इस वार देखते ही लगता था कि कालर ठीक से नहीं लगा है और कमीज़ एक पीतल के बटन के सहारे अटकी-भर है।

पूछा गया कि क्या मैं उसके ग्राहकों में से हूँ तो जवाब दिया, "जी हाँ, साथ-साथ दोस्त भी हैं।" फिर सवाल हुआ कि सेलेस्ते की मेरे बारे में क्या राय है। सेलेस्ते ने कहा कि मैं बहुत भला आदमी हूँ, एकदम चौकस आदमी।" पूछा गया, "एकदम चौकस से तुम्हारा क्या अभिप्राय है, ज़रा खुलासा करो।" तो उसने कहा कि इसका मतलब हर कोई जानता है।

"क्या यह आदमी दिल का घुन्ना है ?"

"जी नहीं।" सेलेस्ते ने जवाब दिया, "घुन्ना तो मैं नहीं कहूँगा, हाँ, और लोगों की तरह बकवास नहीं करते फिरते।"

सरकारी वकील ने जानना चाहा कि जब-जब सेलेस्ते मुझे महीने का बिल देता है क्या मैं नियमित रूप से चुका देता हूँ या हीला-हवाला करता हूँ। इस पर सेलेस्ते हँस पड़ा, "जी, खड़े-खड़े, पाई-पाई चुका देते थे। लेकिन मेरे और इनके बीच बिल तो सिर्फ़ नाम का होता था।" तब मेरे इस अपराध के बारे में उसका अपना विचार पूछा गया। इस पर जिस ढंग से उसने कठघरे के डण्डे पर हाथ रखे, उसी से लगा कि आप बाकायदा भाषण तैयार करके लाये हैं।

"मेरे खयाल से तो चाहे इसे किस्मत की मार कह लीजिए, या सिर्फ़ संयोग। और जब इस तरह की कोई बात हो जाती है तो आदमी यों ही होश-हवास भूल जाता है।"

उसका इरादा तो बोलते जाने का था, लेकिन जज ने बीच ही में टोक दिया, "आप ठीक कहते हैं। अच्छा बस, शुक्रिया !"

पल-भर को तो लगा जैसे सेलेस्ते बौखला उठा। बोला कि अभी उसकी बात ही खत्म नहीं हुई है। बात जारी रखने की आज्ञा तो उसे मिल गयी लेकिन संक्षेप में कहने को कहा गया।

लेकिन वह बार-बार यही कहता रहा कि 'यह तो केवल एक संयोग की बात है।'

"हो सकता है संयोग ही हो," जज साहब ने कहा, "लेकिन हम लोग भी तो यहाँ इसीलिए बैठे हैं कि ऐसे संयोगों पर कानून की दृष्टि से विचार करें। अब आप जा सकते हैं।"

सेलेस्ते घूमा और मेरी ओर अपलक देखता रहा—आँखें भीगी थीं और होंठ काँप रहे थे, जैसे यही कहना चाहता हो, 'यार, देखो तुम्हारे लिए जो बन पड़ा सो मैंने किया। अब मजबूर हूँ।'

न तो मैं मुँह से कुछ बोला न अपनी जगह कतई हिला-डुला। लेकिन ज़िन्दगी में पहली वार एक पुरुष को चूम लेने को मन हुआ।

जज ने फिर सेलेस्ते को अपनी जगह लौट जाने का हुक्म दुहराया। सेलेस्ते आकर भीड़ में अपनी जगह बैठ गया। बाका सारी सुनवाई के समय, घुटनों पर कुहनियाँ टिकायें, हाथों में पनामा हैट लिये मुकदमे का एक-एक शब्द पीता हुआ ज़रा-सा आगे झुका हुआ बैठा रहा।

अगला नम्बर मेरी का था। वह टोप लगाये थी। यों खुले बालों में ही वह मुझे अच्छी लगती थी, लेकिन अब भी काफी सुन्दर दीख रही थी। जहाँ मैं बैठा था वहाँ से उसकी मांसल छातियों के उभार झलकते दीख रहे थे। उसका ज़रा-सा निकला निचला होंठ हमेशा मेरा दिल छीन लेता है। इस समय मेरी शक्ल से बहुत घबरायी हुई लग रही थी।

पहला सवाल था कि मुझे वह कितने समय से जानती है। उसने जवाब दिया कि, 'इनके दफ्तर में साथ काम करती थी, तभी से।' अब जज ने मेरे और उसके बीच क्या सम्बन्ध थे यह जानना चाहा। वह बोली कि 'मैं इनकी महिला-मित्र हूँ।' एक और सवाल के जवाब में उसने स्वीकार किया कि उसने मुझसे शादी करने का वचन दिया है। सरकारी वकील बैठा-बैठा सामने रखा दस्तावेज़ ध्यान से पढ़ रहा था। ज़रा तीखे स्वर में उठकर पूछ बैठा, "आप लोगों में 'सहवास' कब से शुरू हुआ?" मेरी ने तारीख बता दी तो उसने बड़ी लापरवाही के अन्दाज़ में, मानो यों ही चलते-चलते जाने ले रहा हो, पूछ लिया, "यानी कहिए, इनकी माँ की अन्त्येष्टि के बाद वाले दिन से ही तो हुआ न...?" फिर एकदम इस सवाल को यों ही अनुत्तरित छोड़कर उसने हल्के व्यंग्यात्मक लहजे में कहा, "यह विषय कितना नाजुक है, मैं जानता हूँ और यह भी सच्चे दिल से महसूस कर सकता हूँ कि कठघरे में खड़ी नवयुवती की इस पर क्या भावनाएँ होंगी लेकिन..." यहाँ उसकी आवाज़ में तल्खी आ गयी, "लेकिन क्या करूँ, मेरा फर्ज इन कोमल भावनाओं का खयाल

करने से रोकता है···।"

इतनी भूमिका के वाद उसने मेरी से उस दिन का सारा ब्यौरा सुना देने को कहा जिस दिन मैंने पहली वार उसके साथ 'सम्भोग' किया था। पहले तो मेरी सवाल का जवाव देने को ही तैयार नहीं हुई, लेकिन सरकारी वकील ज़िद करता रहा। आखिर उसने वता दिया कि किस तरह हम लोग नहाते समय मिले, कैसे सिनेमा गये और फिर कैसे साथ-साथ कमरे पर आये। अव सरकारी वकील ने अदालत को वताया कि इस मुकदमे के सिलसिले में मेरी ने मजिस्ट्रेट के सामने जो वयान दिये थे उनके आधार पर उसने उस तारीख के सिनेमा कार्यक्रमों का अध्ययन किया है कि किस सिनेमाघर में कौन फिल्म चल रही थी। फिर मुड़कर उसने मेरी से उस फिल्म का नाम वताने को कहा जिसे हम लोग देखने गये थे। वड़ी दवी जवान से मेरी ने वताया कि "कोई फिल्म थी जिसमें फर्नान्देल ने काम किया है।" जैसे ही उसने अपनी वात खत्म की तो अदालत में सन्नाटा छा गया कि सुई भी गिरे तो सुन लो।

वड़ा संजीदा-सा चेहरा वनाकर सरकारी वकील सीधा तनकर खड़ा हो गया और मेरी की ओर उँगली उठाकर जिस लहजे में वोला उससे शर्तिया लगता था कि सचमुच भावोच्छ्वसित हो उठा है।

"माननीय जूरी महोदय, मैं चाहता हूँ कि आप इस वात पर ज़रूर गौर फरमायें कि माँ की अन्त्येष्टि के ऐन अगले दिन यह व्यक्ति तैरने के घाट पर जाता है, एक लड़की के साथ सहवास शुरू करता है, और मज़ाकिया फिल्म देखने पहुँचता है। वस, मुझे यही कहना है।"

वह वैठा तव भी वही मौत की खामोशी छायी थी। तभी अचानक मेरी फूट-फूटकर रो उठी। कहने लगी कि सरकारी वकील ने उसकी वात को एकदम गलत समझा है। सचमुच ऐसी वात कतई नहीं थी। उसने डरा-धमकाकर उससे ठीक उलटी वात कहलवा ली है। उसका मतलव कभी भी यह नहीं था। वह तो मुझे अच्छी तरह जानती है, उसे पक्का भरोसा है कि मैंने किसी का कुछ नहीं विगाड़ा···इत्यादि-इत्यादि। प्रधान जज के इशारे पर एक अर्दली मेरी को हटा ले गया। सुनवाई जारी रही।

मैसन अगला गवाह था, लेकिन उसकी बात किसी ने शायद सुनी ही नहीं। उसने बयान दिये कि मैं एक इज़्ज़तदार नौजवान 'और क्या कहा' सज्जन व्यक्ति हूँ। सलामानो ने बताया कि मैं हमेशा से उसके कुत्ते के प्रति कितना दयालु रहा। या मेरी माँ के बारे में पूछे गये एक सवाल के जवाब में उसने कहा कि मेरे और माँ के बीच सचमुच एक-जैसी कोई बात नहीं थी। वो पूरब थीं तो मैं पच्छिम। यही कारण था कि मैंने उन्हें आश्रम में रखने का इन्तज़ाम किया था। वह बार-बार यह भी कहता रहा, 'आप लोगों को समझ लेना चाहिए'''आप लोगों को समझ लेना चाहिए'''।' लेकिन कोई उसकी बात समझता नहीं लगा। किसी ने उसकी बात ही नहीं सुनी। अब उसे भी लौट जाने का हुक्म मिला।

इसके बाद था आखिरी गवाह, रेमण्ड। उसने हाथ हिलाकर मेरा अभिनन्दन किया। मगर मैं बेकसूर हूँ, यह बताते-बताते जाने कहाँ बहक गया। जज ने उसे झिड़क दिया।

"तुम यहाँ गवाही देने आये हो, मुकदमे पर अपनी राय देने नहीं। जो सवाल पूछा जाये सिर्फ उसी का जवाब दो।"

मृत व्यक्ति से रेमण्ड के सम्बन्ध कैसे और क्या थे, जब यह सवाल किया गया तो उसे अपनी सफाई देने का अवसर मिल गया। उसने बताया कि मृत व्यक्ति को शिकायत रेमण्ड से थी, न कि मुझसे; क्योंकि उसी ने मृत अरब की बहन को पीटा था। मेरा उस अरब से क्या लेना-देना? जज ने सवाल किया कि "क्या मुजरिम से नफरत करने की मृत व्यक्ति के पास कोई वजह नहीं थी?" रेमण्ड बोला, "यह तो सिर्फ इत्तिफाक से ही उस दिन सुबह वहाँ समुद्र-तट पर मौजूद थे।"

"अगर यही है तो'''" सरकारी वकील ने सवाल किया, "यह सारी दुर्घटना जिस खत के कारण हुई, वह खत मुजरिम की करतूत कैसे हो गया?"

रेमण्ड ने जवाब दिया कि "यह भी एक संयोग की ही बात समझिए।"

इस पर सरकारी वकील जल-भुनकर बोला कि लगता है इस मुकदमे में 'संयोग' या सिर्फ 'इत्तिफाक' का बहुत बड़ा हाथ है। "तब क्या इसे भी संयोग ही मान लिया जाये कि जब आपने अपनी प्रेमिका को पीटा

तो मुजरिम ने कोई बीच-बचाव नहीं किया ? और क्या इस संयोग नाम के जीव की खातिर ही मुजरिम ने थाने में जाकर आपके लिए हलफ उठाया और उस मौके पर आपके पक्ष में आँखें मूँदकर बयान दे डाले ?" सबसे अन्त में सरकारी वकील ने रेमण्ड की जीविका के साधनों के बारे में जानना चाहा।

जब रेमण्ड ने बताया कि वह मालगोदाम में नौकर है तो सरकारी वकील ने जूरियों से कहा, "योर ऑनर, हर कोई जानता है कि गवाह औरतों की कमाई पर रहता है। और यह मुजरिम गवाह का जिगरी दोस्त और दाहिना हाथ रहा है।" वकील के हिसाब से, वस्तुतः इस अपराध के मूल में ही अत्यधिक और अवर्णनीय गन्दगी भरी पड़ी थी। इस गन्दगी को और भी घृणित और निन्दनीय बना दिया था मुझ-जैसे नराधम राक्षस के बेहया-बेशर्म व्यक्तित्व ने।

इस पर रेमण्ड हुज्जत करने लगा। मेरे वकील साहब ने भी आपत्ति की। लेकिन उन्हें यह कहकर रोक दिया गया कि पहले सरकारी वकील को अपनी बात पूरी कर लेने दी जाये।

"मेरी बात खत्म ही है।" कहकर वह रेमण्ड की ओर घूमा, "तो मुजरिम तुम्हारा दोस्त है न ?"

"बेशक। मुहावरे में कहूँ तो हम दोनों में दाँत-काटी रोटी है।"

तब सरकारी वकील ने यह सवाल मुझसे भी किया। मैंने गौर से रेमण्ड की ओर देखा। उसने निगाहें चुरायी नहीं। तब मैंने जवाब दिया, "जी, हाँ।"

अब सरकारी वकील जूरियों की ओर मुड़कर बोला, "जूरी महोदय, आपके सामने कठघरे में बैठा यह आदमी माँ की अन्त्येष्टि के ठीक अगले ही दिन निहायत शर्मनाक ऐयाशी में डूबा रहा हो, इतना ही नहीं है, बल्कि रण्डियों और दलालों की बदनाम दुनिया के 'खून के बदले खून चाहनेवाले' एक दोज़खी के बहकावे में आकर इसने अचानक एक निहत्थे आदमी की जान भी ले डाली। माननीय जूरी महोदय, देखा आपने, किस तरह का है यह सामने बैठा मुजरिम ?"

अभी सरकारी वकील बैठ भी न पाया था कि मेरे वकील साहब ने

सारा धीरज ताक पर रखकर अपनी बाँहें कुछ इस तरह ऊँची तान दीं कि उनका चोगा नीचे सरक आया और कलफ लगी आस्तीन पूरी-की-पूरी दीखने लगी।

"मेरे मुवक्किल पर जो मुकदमा इस समय चल रहा है वह माँ की अन्त्येष्टि को लेकर चल रहा है या एक आदमी की हत्या को लेकर?"

ही-ही ही-ही···अदालत में फिर कुछ बेहूदी हँसी सुनायी दी ही थी कि झट सरकारी वकील उछलकर उठ खड़ा हुआ और अपना चोगा झटके के साथ चारों ओर लपेटकर बोला, "मुझे अपने दोस्त की समझ पर निहायत ही ताज्जुब हो रहा है कि वे मुकदमे की इन दोनों बातों के बीच के गहरे सम्बन्ध को नहीं देख पा रहे। मैं तो कहूँगा कि मनोवैज्ञानिक रूप से दोनों बातें एक ही सूत्र में बँधी हैं।" फिर बड़ी कड़क के साथ कहे गये इस वाक्य से उसने अपनी बात खत्म की कि "मुजरिम पर मेरा अभियोग संक्षेप में यह है कि इसने माँ की अन्त्येष्टि के समय जैसा रवैया दिखाया वह साबित करता है कि मुजरिम के भीतर स्थायी अपराधी-मनोवृत्ति हमेशा काम करती रही।"

लगा, इन शब्दों का जूरियों और जनता पर भरपूर असर पड़ा। मेरे वकील साहब मजबूरी में कन्धे झटकाकर रह गये। उन्होंने माथे का पसीना पोंछा, लेकिन वास्तव में वे भी बुरी तरह बौखला उठे थे। यह सब मुझे अपने हित में भला होता नहीं लगा।

इस घटना के बाद ही अदालत उठ गयी। कचहरी से निकलकर जब जेल की गाड़ी में बैठा तभी बस जरा-सी देर के लिए गरमियों की चिर-परिचित साँझ का आनन्द एक बार फिर महसूस हुआ। उस बन्द दौड़ती-कोठरी के अँधेरे में बैठे-बैठे ही मैंने शहरी जीवन में गूँजनेवाली आवाजें पहचानीं···वे आवाज़ें पहचानीं जो गोधूलि के समय शहर से उठा करती हैं। कभी कितनी प्यारी थीं ये आवाज़ें मुझे···कितनी अच्छी लगती थीं मुझे गरमियों की घिरती साँझ! भारी बोझिल वातावरण और उसमें अखबारवाले लड़कों का चिल्लाना···सार्वजनिक बगीचे में पक्षियों की आखिरी चहचहाट···सेण्डविच के फेरीवालों की पुकारें···ऊँचे शहर के ढालू मोड़ पर ट्रामों की चिचियाहट···बन्दरगाह पर छन-छनकर उतरता

हुआ अँधेरा और उस क्षण आसमान से हल्की-हल्की सरसराहट का स्वर ···ये सारी आवाज़ें मेरे थके मस्तिष्क में गूँज रही थीं और इन्हें सुनते हुए जेल की तरफ़ लौटना ऐसा लग रहा था मानो कोई अन्धा, चप्पा-चप्पा परिचित रास्ते से होता हुआ चला जा रहा हो···।

हाँ, साँझ का यही तो क्षण है जव ज़िन्दगी में अकथनीय सुख और सन्तोष महसूस हुआ करता था ! अव तो लगता है, युग बीत गये। ऐसे ही क्षण के बाद तो निःस्वप्न और निश्चिन्त निद्रा-भरी रातें वाँहें खोल-कर मेरी प्रतीक्षा किया करती थीं···आज भी वही क्षण था, लेकिन कितना अन्तर ! आज मैं अपनी काल-कोठरी को लौट रहा था···आज मेरी प्रतीक्षा में वाँहें फैलाये थी आनेवाले दिन की मनहूस आशंकाओं से कुलवुलाती रात···। और तव मैंने जाना कि गरमियों की सान्ध्य-गोधूलि को चीरकर जानेवाली चिरपरिचित पगडण्डियाँ मासूम और वेफ़िक्र नींद को जादुई दुनिया में ही नहीं ले जातीं···जेल की मनहूस दीवारों के भीतर भी ले जाती हैं···।

चार

खुद आदमी चाहे अदालत के कठघरे में ही क्यों न खड़ा हो, उसे यह हमेशा अच्छा लगता है कि लोग उसकी चर्चा करें, वह उनकी बातों का केन्द्र हो। सरकारी वकील और मेरे वकील साहव ने जो इतना सव कुछ कहा था, वह सव मेरे बारे में ही तो था। हाँ, हाँ, उनकी कही सारी बातें मेरे अपराध के बारे कम, मेरे अपने बारे में ही ज्यादा थीं।

वस्तुतः दोनों के भाषणों में कोई वहुत ज्यादा विरोध या अन्तर नहीं था। बचाव-पक्ष के वकील ने दोनों हाथ ऊपर आकाश की ओर उठा कर अपराध स्वीकार कर लिया था लेकिन साथ ही कहा था, कि अपराध ऐसी लाचारी की हालत में किया गया कि उसकी गुरुता कम हो जाती है।

सरकारी वकील ने भी उसी तरह हाथ आसमान की ओर उठाये थे, लेकिन माना यह था कि मैंने अपराध किया है और अपराध किसी भी लाचारी की हालत में नहीं किया गया, न ही उसकी गुरुता कम होती है।

यहाँ आकर मुकदमे की एक बात से मुझे बड़ी चिड़चिड़ाहट महसूस हुई, ये लोग जो कुछ कह रहे थे वह मेरे ही हित के लिए तो था, और मुझे ही सबसे ज्यादा दिलचस्पी होनी स्वाभाविक थी। इसलिए कई बार कुछ बोलने को मेरा भी मन हुआ। लेकिन वकील साहब ने कह रखा था कि मैं बिल्कुल न बोलूँ। खास चेतावनी दी थी कि, 'तुम बोलोगे तो मुकदमा बिगड़ जायेगा।' सचमुच, मुझे तो ऐसा लगता था कि जैसे यह तो इस सारी कार्रवाई से मुझे बाकायदा अलग रखे रहने की साज़िश है, कि मैं मुँह सिये बैठा रहूँ और ऊपर ही ऊपर मेरी किस्मत का वारा-न्यारा हो जाये।

कभी-कभी उन लोगों की बात काटने को कितना मन करता था और इस इच्छा को मैं कैसे बस में रखता था, मैं ही जानता हूँ। जी में होता था कि कह दूँ कि 'इस सबकी ऐसी-तैसी। मैं पूछता हूँ कि मुकदमा चल किस पर रहा है? जिस आदमी पर हत्या का इलज़ाम लगाया गया है उसके लिए तो ज़िन्दगी और मौत का सवाल है? इसलिए मैं जो कुछ कहूँगा वही सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी है।'

मगर फिर जब अपनी बात पर विचार करता तो लगता कि कहने के लिए तो कुछ है ही नहीं। बहरहाल, यह मैं मानता हूँ कि अपने बारे में सुनने में भी आदमी को शीघ्र ही उतनी दिलचस्पी नहीं रह जाती। सरकारी वकील का भाषण अभी आधा भी नहीं हुआ था कि मैं बुरी तरह ऊबने लगा। हाँ, कहीं-कहीं कुछ चीज़ें ज़रूर ऐसी थीं जिन्होंने मुझे खींचा, जैसे बीच-बीच में किया गया मुहावरों का उपयोग, क्षण-क्षण पर बदलती वकील की मुख-मुद्राएँ और हाव-भाव, तेज़-तर्रार हमले। लेकिन ये सब बातें भी मुझे अलग-अलग ही अच्छी लगीं, भाषण का अंग बनकर नहीं।

मेरी समझ में जो बात आयी, वह यह कि सरकारी वकील सारी बात को एक विशेष दिशा दे रहा है और वह यह कि अपराध मैंने खूब

सोच-विचार कर, पूरी तैयारी के साथ किया है। याद आता है एक बार उसने कहा था, "जूरी महोदय, मैं अपनी बात को राई-रत्ती सिद्ध कर दूँगा। एक तरफ तो आपके सामने अपराध के सारे तथ्य दिन की रोशनी की तरह उजागर हैं, दूसरी तरफ वह पक्ष भी मौजूद है जिसे मैं आपके अपराध का 'काला पक्ष' कहता हूँ, अर्थात् अपराधी मनोवृत्ति की काली करतूतें और भीतरी चालें।"

कहकर उसने माँ की मृत्यु के बाद से लेकर सारे तथ्य समेटने शुरू किये। जिन बातों पर उसने विशेष ज़ोर दिया वे थीं, मेरी हृदय-हीनता, मेरा, माँ की उम्र न बता पाना, नहानेवाले घाट पर जाकर मेरी से मुलाकात करना, फर्नान्देल की फिल्म का दोपहरवाला शो देखना, और सबसे अन्त में मेरी को लेकर कमरे पर आना। पहले जब कई बार उसने 'अपराधी की प्रेमिका' का ज़िक्र किया तो मेरी समझ में उसका मतलब ही नहीं आया, क्योंकि मेरे लिए तो वह केवल 'मेरी' थी। इसके बाद उसने रेमण्ड की बात उठायी। सारी बात को रखने के उसके ढंग से ही मुझे खास चालाकी की गन्ध आती थी। उसने जो-जो बात और जिस-जिस ढंग से कही, वह सब सुनने में बहुत सही और तर्क-संगत लगती थी। मैंने रेमण्ड के साथ साज़िश करके खत लिखा, खत के भुलावे में आकर उसकी प्रेमिका रेमण्ड के कमरे में आ गयी, यहाँ उसे उस 'सन्दिग्ध-चरित्र' व्यक्ति के हाथों दुर्व्यवहार सहना पड़ा। फिर समुद्र के किनारे जाकर मैंने रेमण्ड के दुश्मनों के साथ फसाद खड़ा किया, उसमें रेमण्ड घायल हो गया। उससे पिस्तौल माँगकर मैं खुद उसका इस्तेमाल करने की नीयत से वापस वहीं पहुँचा और जाकर अरब पर गोली चलायी। पहली गोली चलाकर मैं रुका, फिर उसे पूरी तरह ठिकाने लगाने के खयाल से जान-बूझकर अपने निरीह-निहत्थे शिकार पर धाँय-धाँय चार गोलियाँ और दाग दीं।

"तो यह है मेरी दलील और मुकदमे का स्वरूप।" बात खत्म करके सरकारी वकील बोला, "अपने काम और परिणाम को अच्छी तरह जानते-बूझते किस तरह इस व्यक्ति ने मृतक की हत्या की और वहाँ तक का क्या घटना-क्रम रहा, सबकुछ मैंने आप लोगों के सामने रख दिया

है। अब यहाँ मैं एक बात पर और ज़ोर देना चाहता हूँ। अचानक पागलपन में आकर कोई किसी की जान ले ले, इस तरह के पागलपन को 'लाचारी की हालत' की हालत में किया गया ऐसा अपराध माना जा सकता है जहाँ अपराध की गुरुता कम हो जाती है। हमें यहाँ उससे कोई वास्ता नहीं। क्योंकि जूरी महोदय, मैं जिस बात पर आपसे गौर फरमाने की प्रार्थना करता हूँ, वह यह है कि मुजरिम पढ़ा-लिखा आदमी है। जिस ढंग से उसने मेरे सवालों के जवाब दिये, उन पर आपने खुद गौर किया होगा। यह आदमी अक्लमन्द और मेधावी है और शब्दों का महत्त्व-मूल्य जानता है। इसलिए मैं फिर दुहराता हूँ कि जुर्म करते समय इसे यही पता नहीं था कि कर क्या रहा है, ऐसा मान लेना किसी भी हालत में मुमकिन नहीं है।"

मैंने देखा कि सरकारी वकील ने मेरे 'अक्लमन्द और मेधावी' होने पर काफी ज़ोर दिया और इस बात ने मुझे खासा चक्कर में डाल दिया कि सामान्य आदमी में जो बात गुण मानी जाती है, उसे ही अभियुक्त के अपराध के लिए अकाट्य तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जाये। मेरा दिमाग इसी में उलझा था इसलिए उसने आगे जो कुछ कहा वह नहीं सुन पाया। सुना उस समय जब वह तैश में आकर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था, "अपने इस घृणित और निन्दनीय अपराध पर अफसोस और प्रायश्चित्त का एक शब्द भी इसके मुँह से फूटा? एक शब्द नहीं! जूरी महोदय, एक शब्द नहीं! इस सारी कार्रवाई के दौरान में इस आदमी ने भूलकर भी तो एक बार अपने पाप के लिए पछतावा या खेद प्रकट किया होता!"

कठघरे की ओर घूमकर उसने मेरी ओर उँगली तानकर इशारा किया और उसी तरह, उसी लहजे में बोलता रहा। मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि वह बार-बार इसी बात की रट क्यों लगाये है? यों, यह मैं ज़रूर मानता हूँ कि उसकी बात सही थी, अपने किये पर मुझे बहुत पछतावा था भी नहीं। फिर भी मुझे लगा कि उसने बात को ज़रूरत से ज़्यादा खींच डाला है। मन में तो आया कि एक बार बड़े दोस्ताने ढंग से, बहुत ही आत्मीयता के साथ उसके कन्धे पर हाथ रख-

कर समझा दूँ कि 'भाई जान, अपनी सारी ज़िन्दगी में किसी बात को लेकर इस खाकसार को कभी पछतावा हुआ ही नहीं। यहाँ तो अपने वर्तमान या तत्काल भविष्य को लेकर ही इतने मस्त रहे हैं कि पीछे मुड़कर देखने की फुरसत ही नहीं मिली।' मगर इस समय जिस झमेले में मुझे फँसा दिया गया था, उसमें इस लहजे के साथ किसी से बात करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। अब तो मुझे यह हक ही नहीं था कि किसी के प्रति दोस्ती या सद्भावना मन में रख सकूँ। इसलिए आगे जो कुछ हो रहा था मैं उसे ही समझने की कोशिश करने लगा। इस समय सरकारी वकील जिस चीज़ पर विचार कर रहा था वह थी उसके शब्दों में 'मेरी अन्तरात्मा'।

वह बोला, "मैंने बड़े ध्यान से इस आदमी की 'अन्तरात्मा' का अध्ययन किया है, लेकिन जूरी महोदय, मैं सच कहता हूँ मुझे इसमें आत्मा नाम की चीज़ का नामोनिशान नहीं मिला। यह भीतर से खोखला और शून्य है। विश्वास कीजिए, इस आदमी में कोई अन्तरात्मा नहीं है, कोई मानवीय भावना नहीं है, इसके मन में, सोचने-विचारने के ढंग में सामान्य आदमियोंवाला कोई नैतिक गुण, या सदसद् विवेक नहीं है।"

इसके बाद आगे उसने यह भी कहा, "बेशक, जो कुछ इसमें नहीं है उसके लिए हम इसे बुरा-भला क्यों कहें? जिसे पा लेना आदमी के वश में ही नहीं है उसके न होने के लिए किसी को दोषी कैसे ठहराया जा सकता है? लेकिन फिर भी, देखना यह है कि फौजदारी-अदालत में जिन कटु-कठोर और महान् आदर्श की ज़रूरत होती है वह है 'न्याय', 'सहनशीलता' और 'क्षमा' जैसे निष्क्रिय और निर्जीव आदर्श नहीं। खास तौर पर यह निर्दय न्याय उस समय तो और भी ज़रूरी हो जाता है जब स्वस्थ और सुन्दर उदार भावनाओं की कमी समाज के लिए अभिशाप बन जाये, जैसी कि आपके सामनेवाले इस आदमी में हो गयी है।" इतना कहने के बाद पेशी के समय कही गयी सारी बातों को दोहराते हुए उसने माँ के प्रति मेरे व्यवहार की फिर से खाल उधेड़नी शुरू की। लेकिन इस बार मेरे अपराध को लेकर वह पहले से कहीं अधिक विस्तार में बोला और इस तरह बाल की खाल निकालता चला गया कि मेरे लिए तो बातों

का सिर-पैर ही गायब हो गया। होश रह गया सिर्फ इतना ही कि गरमी धीरे-धीरे बढ़ती चली जा रही है।

एक स्थिति ऐसी आयी कि सरकारी वकील का बोलना आखिर रुका। थोड़ी देर चुप रहा, फिर कँपकँपाती धीमी आवाज़ में बोला, "जूरी महोदय, कल यही अदालत अपराध की दुनिया के निकृष्टतम अपराध, अर्थात् बेटे द्वारा बाप की हत्या, पर विचार करने जा रही है। इसकी तो मैं किसी तरह कल्पना नहीं कर पाता कि बेटा बाप को मार डाले, लेकिन मैं आशा करता हूँ कि न्याय बिना किसी रू-रियायत के अपना फर्ज़ अदा करेगा। मगर साथ-साथ मैं निःसंकोच यह भी कहता हूँ कि इस आदमी की क्रूरता, हृदय-हीनता और बेहयाई को देखकर मेरे दिल में जो भयानक नफरत जागती है उसके सामने पितृ-हत्या के अपराध की भीषणता भी फीकी पड़ जाती है।

"नैतिक रूप से अपनी माँ की मौत का यही आदमी ज़िम्मेदार है और किसी भी हालत में उस आदमी से यह भी उन्नीस नहीं है, जिसने अपने जन्मदाता बाप की हत्या कर डाली। यह भी उसी बिरादरी में शामिल होने का हकदार है। एक अपराध से ही दूसरे अपराध का जन्म होता है, यह स्वयंसिद्ध है। मुजरिम दो हैं और दोनों में से पहला यह आपके सामने कठघरे में है। अगर मुझे कहने की आज्ञा हो तो कहूँगा कि इसी ने उस दूसरे जुर्म का आदर्श सामने रखा है, यानी उस दूसरे आदमी को पितृ-हत्या का अधिकार दिया है। जी हाँ, जूरी महोदय," यहाँ वकील की आवाज़ ऊँची होकर एक विशेष लहजे में बदल गयी, "कल की अदालत में हत्या का जो मुकदमा पेश होने जा रहा है, उसका वास्तविक अपराधी भी यही आदमी है, अगर यह कहूँ तो मुझे विश्वास है कि आप लोग इसे मुजरिम के खिलाफ मेरी ज्यादती नहीं मानेंगे और न यही समझेंगे कि मैं तिल का ताड़ बनाये दे रहा हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप अपना फैसला इस बात को ध्यान में रखकर देंगे।"

इसके बाद सरकारी वकील मुंह का पसीना पोंछने के लिए रुका और फिर बताने लगा कि उसका फर्ज़ कितना कड़वा और कठोर है, लेकिन बिना माथे पर शिकन लाये वह उस फर्ज़ को पूरा करेगा। "मैं फिर कहता

हूँ, जिन लोगों के आधारभूत सिद्धान्तों की यह आदमी जी भरकर खिल्ली उड़ाता रहा है उन लोगों की बिरादरी में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। इस-जैसे हृदय-हीन आदमी को दया पाने का हक नहीं है। मैं अदालत से अनुरोध करता हूँ कि बिना किसी रहम-मुलाहिजे के कानून की रू से इसे कड़े-से-कड़ा दण्ड दिया जाये। ऐसी माँग करते हुए मुझे कोई दुविधा, कोई संकोच या झिझक नहीं है। अपने पेशे के लम्बे दौरान में अक्सर ही मुझे आप लोगों के सामने अपने फर्ज़ की खातिर बहुत बार मौत की सज़ा की माँग करनी पड़ी है, लेकिन सच मानिए इस मुकदमे में मौत की सज़ा की माँग करते हुए मैं मन में जैसा हल्कापन और सन्तोष अनुभव कर रहा हूँ वैसा इस दुखदायी कर्त्तव्य को निवाहते हुए मैंने कभी नहीं किया। अपराध की गुरुता कम करनेवाली लाचारी की हालत में यह हत्या कतई नहीं की गयी, इसलिए इस तरह के फैसले की माँग करके मैं अपनी आत्मा की पुकार और पवित्र कर्त्तव्य की ज़िम्मेदारी ही नहीं निवाह रहा बल्कि मुजरिम को देखकर मन में अपने-आप उमड़ उठनेवाले सत्विक, न्याय-संगत क्रोध का आदेश भी पूरा कर रहा हूँ; क्योंकि इस आदमी में मानवीय-भावना की कहीं कोई चिनगारी शेष नहीं रह गयी है।"

सरकारी वकील उठ गया लेकिन एक लम्बा सन्नाटा चलता रहा। एक तो गरमी और दूसरे, इस सबको सुनकर मैं तो अथाह आश्चर्य के सागर में डुबकियाँ लगाने लगा। प्रधान जज ने धीरे-से खाँसकर गला साफ किया और बड़ी गिरी-सी आवाज़ में मुझसे पूछा कि इस पर मुझे तो कुछ नहीं कहना। मैं उठा। चूँकि बोलने की लहर मन में आ रही थी, इसलिए जो भी मुँह में आया बोलने लगा कि अरब को मारने की मेरी कतई नीयत नहीं थी। इस पर जज ने जवाब दिया कि अदालत मेरे इस बयान का खयाल रखेगी। फिर भी तुम्हारे वकील साहब अदालत के सामने अपनी बात कहें, इससे पहले हम तुम्हारे मुँह से ही यह जानना चाहते हैं कि इस जुर्म के पीछे आखिर तुम्हारी मंशा क्या थी ? अभी तक तो तुम्हारे बचाव का कोई सिर-पैर ही मेरी समझ में नहीं आता।

मैंने बताना चाहा कि यह सब धूप और गरमी के कारण हुआ, लेकिन

मैं कुछ ऐसी तेज़ी से बोला कि शब्द एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ करने लगे। हाँ, यह होश मुझे ज़रूर था कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ, सुनने वालों को निरी बकवास लग रही है। मैंने लोगों को मखौल उड़ाते हुए और ही-ही हँसते हुए भी सुना।

बड़े हताश भाव से मेरे वकील साहब ने कन्धे झटके। आदेश मिला कि इस बार वे अदालत के सामने अपनी बात कहेंगे। मगर उन्होंने आकर सिर्फ इतना ही कहा कि बहुत वक्त हो गया है, इसलिए सुनवाई कल शाम के लिए मुल्तवी कर दी जाये। जज ने उनकी बात मान ली।

अगले दिन मुझे फिर अदालत लाया गया। घुटी-घुटी हवा को बिजली के पंखे मथे जा रहे थे और जूरी लोग हाथ के छोटे-छोटे रंग-बिरंगे पंखों को धीरे-धीरे एक ताल पर घुमाये जा रहे थे। बचाव का भाषण इतना लम्बा था कि लगा इसका कभी अन्त नहीं होगा। फिर भी एक जगह मैंने कानों पर ज़ोर देकर सुना। इस समय वकील साहब कह रहे थे, "यह सही है कि मैंने एक आदमी की हत्या की।" इस प्रकार जहाँ मेरा ज़िक्र आता वहाँ वे 'मैं' का प्रयोग करके अपनी उसी लय में बोलते रहे। मुझे यह सब इतना अजीब लगा कि दाहिनी ओर वाले सिपाही की ओर झुककर पूछा, "यह क्या मामला है भाई ?" पहले तो उसने डाँट दिया, "चुप रहो।" पर फिर समझाया, "ऐसा ही कायदा है।" इसके पीछे भी मुझे एक यही उद्देश्य लगा कि अपने मुकदमे से जहाँ तक हो सके मुझे दूर ही रखा जाये। या यों कह लीजिए कि मेरी जगह वकील को रखकर खुद मुझे तस्वीर से निकाल बाहर किया जाये। पर खैर, इस सबसे क्या आना-जाना ! मुझे तो खुद महसूस हो रहा था जैसे मैं, इस सारी कष्टप्रद कार्रवाई से, इस अदालती दुनिया से हज़ारों-लाखों मील दूर हूँ।

बहरहाल, मुझे अपने वकील साहब इतने ज़्यादा कच्चे और कमज़ोर लग रहे थे कि हँसी आती थी। जल्दी-जल्दी क्षणिक आवेश और उत्तेजना वाली दलीलें दे-दिलाकर अब वे भी मेरी 'अन्तरात्मा' पर उतर आये थे। मगर मुझे साफ लग रहा था कि उनमें सरकारी वकील-जैसी प्रतिभा और तेज नहीं है।

"योर ऑनर," वे बोले, "मैंने भी इस आदमी की अन्तरात्मा का गहराई से अध्ययन किया है। लेकिन अपने विद्वान् मित्र, सरकारी वकील की तरह वहाँ कुछ न मिला हो, ऐसा नहीं है। मुझे वहाँ बहुत-कुछ मिला। मैं झूठ नहीं कहता, मैंने मुजरिम के दिमाग को खुली किताब की तरह पढ़ा है।" और वकील साहब ने जो कुछ पढ़ा था वह यह था कि मैं बहुत ही अच्छा नवयुवक हूँ। दृढ़-चरित्र, मालिक के लिए जान देनेवाला, खुद भला-बुरा समझनेवाला नौकर हूँ, सब जगह बहुत लोकप्रिय हूँ और दूसरों की मुसीबत में काम आता हूँ। इस प्रकार अपने वकील साहब के अनुसार मैं निहायत ही कर्त्तव्य-परायण पुत्र था और जब तक मुझसे बना, मैंने अपनी माँ का भरण पोषण किया। पर फिर काफी सोच-विचार के बाद इसी नतीजे पर आया कि आश्रम में भरती होकर बुढ़िया ज्यादा सुख-शान्ति पायेगी। मेरे पास इतने साधन नहीं थे कि मैं खुद माँ को इस प्रकार की सुख-शान्ति दे पाता। इस जगह वकील साहब ने यह भी कहा कि "माननीय जूरी महोदय, मेरे विद्वान् मित्र ने जिस ढंग से इस आश्रम का ज़िक्र किया है, उससे मैं स्तब्ध रह गया हूँ। इस प्रकार की संस्थाओं की श्रेष्ठता का प्रमाण ही आपको चाहिए तो इतना ध्यान कर लेना काफी होगा कि सरकार द्वारा ही इन संस्थाओं को नैतिक और आर्थिक प्रोत्साहन और सहायता मिलती है।" मैंने देखा कि वकील साहब ने अन्त्येष्टि का तो कहीं ज़िक्र ही नहीं किया। लगा कि यह तो काफी महत्त्वपूर्ण बात छुटी जा रही है। लेकिन इनकी लम्बी-चौड़ी पैंतरेबाज़ी, अगणित दिनों और घण्टों मेरी 'अन्तरात्मा' को लेकर की गयी माथा-पच्ची और बाकी बातों से मेरी यह हालत हो गयी थी कि दिमाग काम ही नहीं करता था और हर चीज़ भूरे-भूरे तरल कुहरे में घुलती नज़र आती थी।

बस, अन्त की ओर की एक ही बात याद बनी है। वकील साहब अपनी बकवास किये चले जा रहे थे। तभी अचानक सड़क पर आइसक्रीम बेचनेवाले का कनस्तर बजता सुनायी दिया। शब्दों के इस अजस्र प्रवाह को चीरती हुई तीखी आवाज़ क्षण-भर को आयी और मन में स्मृतियों का बाँध टूट पड़ा···ये स्मृतियाँ उस ज़िन्दगी की थीं जो अब मेरी नहीं

रह गयी थीं—उन दिनों की थीं जिन्होंने कभी निश्चित और छोटे-से-छोटे सुख में मुझे सुखी रखा था···वे गरमियों के दिनों की आत्मीयता और ऊष्मा-भरी गन्ध-लहरियाँ···वे मेरी प्रिय सड़कें और वह सँझाता आसमान···मेरी के शरीर के कपड़े और उसकी वे उन्मुक्त खिलखिलाहटें ···सभी कुछ तो उस पल मेरे सामने कौंध गया। इस समय जो कुछ सामने हो रहा था वह इतना ज़्यादा व्यर्थ और बेकार लगा जैसे कोई मेरा गला दबा रहा हो और मेरा जी मिचला रहा हो। बस, यही मन में आता था कि जैसे भी हो इस बवाल से जान छूटे और अपनी कोठरी में जाकर पड़ रहूँ···लम्बी तानकर खूब सोऊँ···खूब सोऊँ···।

बहुत धुँधला-धुँधला-सा सुना, वकील साहब आखिरी बार अपील कर रहे थे :

"माननीय जूरी महोदय, मुझे विश्वास है कि आप अच्छे-भले, गुणी और परिश्रमी नौजवान को सिर्फ इसी आधार पर फाँसी नहीं देंगे कि एक मनहूस घड़ी में उसका अपने पर काबू नहीं रहा था। अब ज़िन्दगी-भर के लिए जिस परिताप और आत्म-भर्त्सना की भट्ठी में भुनना इसकी किस्मत में लिख दिया गया है, क्या वही सज़ा इसके लिए काफी नहीं है ? मैं बड़े आत्म-विश्वास के साथ आपके फैसले की राह देख रहा हूँ, क्योंकि जानता हूँ कि फैसला एक ही है और वह है लाचारी की हालत में की गयी हत्या—एक ऐसी परिस्थिति में किया गया अपराध जिसमें अपराध की गुरुता कम हो जाती है।"

अदालत उठ गयी। वकील साहब अपनी जगह आ बैठे। शक्ल से थककर चूर-चूर लगते थे। उनके कुछ साथियों ने जा-जाकर उनसे हाथ मिलाये। एक को कहते सुना, "यार, आज तो तुमने झण्डे गाड़ दिये !" एक और वकील ने मुझसे ही समर्थन चाहा, "भई वाह, कमाल कर दिया न !" मैं झूठ-मूठ को मान गया। वरना सचाई तो यह थी कि मैं खुद इतना थक गया था कि वकील साहब ने 'कमाल' किया या नहीं, यह बताने लायक नहीं था।

इस बीच दिन ढलने लगा था और गरमी उतनी नहीं रह गयी थी। सड़क से सुनायी पड़ती कुछ अस्पष्ट-सी आवाज़ों से जाना कि बाहर

चारों ओर साँझ की शीतलता फैल गयी है। हम सब बैठे-बैठे प्रतीक्षा किये जा रहे थे और जिस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे वस्तुतः उसका सम्बन्ध किसी और से नहीं मुझसे और केवल मुझसे था, मेरे भविष्य से था। मैंने कचहरी के कमरे में चारों ओर निगाहें घुमाकर देखा। हू-ब-हू पहले दिन-जैसा था। हल्के सलेटी सूटवाले पत्रकार और 'चाभी-भरी कठपुतली' औरत से आँखें मिलीं तो याद आया कि इस सारी सुनवाई के दौरान में मैंने एक बार भी मेरी से नज़रें मिलाने की कोशिश नहीं कीं। उसे भूल गया होऊँ, ऐसा नहीं था। बल्कि मन अन्य दूसरी बातों में ही इतना उलझा रहा था कि उसका खयाल ही नहीं रहा। अब देखा, वह सेलेस्ते और रेमण्ड के बीच में बैठी थी। उसने मुझे देखकर धीरे से हाथ हिलाया, मानो कहना चाहती हो कि 'तो आखिरकार वह क्षण आ ही गया।' वह मुस्करा रही थी, पर मुझे पता था कि मन बहुत व्यग्र और चिन्तित है। लेकिन मेरा दिल तो मानो पथरा गया था। जवाब में मुझसे मुस्कराते भी नहीं बना।

जज लोग वापस अपनी-अपनी कुरसियों पर आ बैठे। किसी ने जूरियों के सामने एक लम्बी प्रश्न-माला पढ़कर सुनायी। यहाँ-वहाँ मैंने एकाध शब्द सुना : 'पहले से सोच-विचारकर द्वेषवश की गयी हत्या···आवेश और उत्तेजना···अपराध की गुरुता कम करनेवाली लाचारी की हालत···।' इस बार जूरी लोग उठकर बाहर चले गये। मुझे भी फिर उसी बगल वाले कमरे में ले आया गया, जहाँ पहले-पहल बिठाया था। वकील साहब मिलने आये। बहुत ज़्यादा बातें कर रहे थे और इतनी आत्मीयता और अपनापन दिखा रहे थे, जितनी पहले कभी नहीं दिखायी। भरोसा दिलाया कि सब ठीक-ठाक हो जायेगा और सिर्फ कुछ साल की सज़ा या काले-पानी में ही सनीचर टल जायेगा। मैंने पूछा कि एकदम बरी होने की कोई सम्भावना है या नहीं ? बोले, ऐसी उम्मीद तो नहीं है। जब तक कोई कानूनी आधार न हो, एकदम बरी होने का कोई सवाल नहीं उठता और कानून का कोई नुक्ता उन्होंने जान-बूझकर नहीं उठाया। इससे बेकार ही जूरियों के दिमाग में पहले से गलतफहमी बैठ जाती। मैंने उनका दृष्टिकोण समझकर बात मान ली। तटस्थ भाव से देखने पर मुझे

उनकी वात सही भी लगी, वरना मुकदमेबाजी और कानूनी उखाड़-पछाड़ का तो कोई अन्त ही नहीं है। वकील साहब वताने लगे, "वहरहाल, साधारण ढंग से जैसे अपील की जाती है, तुम भी एक अपील कर देना। वरना मुझे तो सोलहों आने विश्वास है कि फैसला तुम्हारे ही हित में होगा।"

हम लोग काफी देर, कहना चाहिए, पौन घण्टे से ऊपर ही प्रतीक्षा करते रहे। तव कहीं जाकर एक घण्टी वजने की आवाज़ सुनायी दी। वकील साहब यह कहते हुए चले गये, "अब जूरियों का मुखिया ज़वाव पढ़कर सुनायेगा। इसके वाद फैसला सुनने के लिए तुम्हें वुलाया जायेगा।"

धाड़-धाड़ कुछ दरवाज़े बजे। कुछ लोगों के धम-धम ज़ीना उतरने की आवाज़ आयी। वे लोग पास ही थे या दूर, यह नहीं मालूम। इसके बाद अदालत के कमरे में किसी की एक लय से भनन्-भनन् करती आवाज़ सुनायी दी।

दुवारा घण्टी वजी तो मैं फिर से वाहर के कठघरे में आ गया। अदालत के कमरे का सन्नाटा मानो चारों ओर से शिकंजे की तरह मुझे भींचने लगा और इस दमघोटू सन्नाटे के साथ जब मैंने देखा कि वह युवक पत्रकार पहली वार मुझसे निगाहें चुरा रहा है तो एक अजब सनसनी-सी मेरे तन-मन में व्याप गयी। जिस तरफ मेरी बैठी थी, मैं उधर नहीं देख पाया। वक्त ही नहीं मिला, क्योंकि तभी प्रधान जज ने कुछ इस आशय की एक लम्बी-चौड़ी बकवास सुनानी शुरू कर दी कि 'फ्रांसीसी जनता के नाम पर' मुझे किसी 'चौराहे के बीच में खड़ा करके' मेरी 'गरदन उड़ा दी जाये।'

उस समय मुझे लगा कि उपस्थित लोगों के चेहरों का भावार्थ मैं समझ रहा हूँ, और यह भाव था लगभग सम्मानपूर्ण सहानुभूति का। सिपाही भी मेरे साथ बड़ी नरमी से व्यवहार कर रहे थे। वकील साहब का सान्त्वना देता-सा हाथ मेरी कलाई पर रखा था। मेरा दिमाग उस समय बिल्कुल शून्य था। मैंने एकदम सोचना बन्द कर दिया था। जज की आवाज़ पूछती सुनायी दी, "तुम्हें कुछ और कहना है?" क्षण-भर सोचकर मैं बोला, "जी नहीं।" और तब सिपाही मुझे बाहर ले आये।

अभी-अभी जेल के पादरी से तीसरी बार मिलने से इनकार किया है। न तो मेरे पास उससे करने लायक बात है और न बात करने का मन करता है। बहरहाल, बहुत जल्दी भेंट तो करूँगा ही। मेरी तो सारी दिलचस्पी इन दिनों एक ही चीज़ में है कि कैसे इस सारी मशीन की आँखों में धूल झोंक पाऊँ। जानना यही चाहता हूँ कि इस अपरिहार्य भवितव्य में कहीं कोई गुंजाइश, कहीं कोई फाँक भी है या नहीं!

मुझे दूसरी कोठरी में हटा दिया गया है। यहाँ चित्त लेटने से आसमान दीखता है, कुछ और देखने को है भी नहीं। दिन का मुसाफिर रात की दिशा में बढ़ता रहता है। और आसमान के इन्हीं बदलते रंगों को देखते-देखते सारा समय चला जाता है। मैं सिर के नीचे हाथ रखकर ऊपर ताकता रहता हूँ···ताकता रहता हूँ और प्रतीक्षा करता रहता हूँ···।

गुंजाइश या दरार खोज लेने की यह समस्या भूत की तरह दिमाग पर सवार है। आजकल तो हर समय एक ही बात सोचता रहता हूँ, क्या इस तरह की घटनाएँ हुई ही नहीं कि प्राण-दण्ड पाये हुए कैदी न्याय की निर्दय, अमोघ मशीन के पंजे से छूटकर, पुलिस के घेरे को तोड़ते हुए, गरदन पर 'गिलोटिन' (गँड़ासा) पड़ने से पल-भर पहले ऐन समय नौ-दो-ग्यारह हो गये हों? मैं ही जानता हूँ कितना-कितना कोसा है मैंने अपने-आपको कि सरे-बाज़ार फाँसी लगने के विवरणों की तरफ मैंने पहले कभी ध्यान क्यों नहीं दिया। हमेशा आदमी को ऐसी चीज़ों में दिलचस्पी लेते रहना चाहिए, कौन जाने किस समय कैसा मौका आ जाये! फाँसी के वर्णन अखबारों में तो मैंने भी औरों की तरह पढ़े हैं, लेकिन इस विषय का भी तकनीकी वर्णन करनेवाली पुस्तकें भी तो आखिर होंगी ही। उन्हें खोजने की तरफ मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया। कौन जाने इन्हीं किताबों में मुझे भाग निकलनेवालों की कुछ कहानियाँ मिल जातीं! और जब वे कहानियाँ बच निकलनेवालों की होतीं तो ज़रूर ही उनमें बताया गया होता कि कैसे इस मशीन के पहिये एक बार रुक गये थे,

कैसे घटनाओं की दुर्दान्त दौड़ में सिर्फ एक बार—काश, सिर्फ एक बार—संयोग या सौभाग्य ने ऐसा गुल खिला दिया था कि सारा नक्शा ही बदल गया। बस, मुझे तो केवल एक उदाहरण चाहिए। इस तरह की अकेली घटना एक तरह से मुझे कितनी बड़ी सान्त्वना, कितना मानसिकसन्तोष दे जाती! बाकी रंग तो मेरी भावनाएँ खुद ही भर डालतीं। अखबारों में अक्सर लोग 'समाज के ऋण' की चर्चा करते हैं। कहते हैं कि अपराधी को तो हर हालत में कर्ज़ चुकाना ही चाहिए। लेकिन इस तरह की ये चर्चाएँ कहीं भी तो कल्पना को नहीं छूतीं। नहीं, यह सब नहीं। मेरे लिए तो बस एक ही चीज़ जीवन-मरण का प्रश्न बन गयी थी कि कैसे एक झटके, एक धक्के में ऐसा कुछ कर डालूँ कि इन लोगों का यह खूनी अनुष्ठान रखा-का-रखा रह जाये। छूट भागने की एक उन्मत्त भीषण भगदड़ की कल्पना में ही मुझे आशा की एक किरण दीखती थीं, कौन जाने पासा ही पलट जाये! इस 'आशा' का जो अन्त होना था वह भी मैं अच्छी तरह जानता था—भागते हुए किसी सड़क के मोड़ पर गिराकर ढेर कर दिया जाना या पीठ में गोली खाकर चल बसना। लेकिन सब-कुछ मानते हुए यह 'ऐश' भी तो मेरे भाग्य में नहीं बदा था। मैं तो ऐसी चूहेदानी में आ फँसा था कि कोई रास्ता ही नज़र नहीं आता था। लेकिन लाख कोशिश के बावजूद इस अवश्यम्भावी को मैं गले नहीं उतार पाता था। इसका कारण था। विचार करने पर लगता कि जिस फैसले के आधार पर यह टिकी है, उसमें और फैसला सुना चुकने के बाद से शुरू होनेवाले अपरिवर्तनीय घटनाक्रम के बीच कोई अनुपात और सन्तुलन ही नहीं दिखायी देता। उदाहरण के लिए पहली बात तो यह कि फैसला पाँच की बजाय आठ बजे पढ़कर सुनाया गया, दूसरी बात यह कि फैसला यह न होकर कुछ और भी हो सकता था, तीसरी बात यह कि यह फैसला उन लोगों ने दिया था जो बाहरी कपड़े तो हमेशा एक ही पहने रहते हैं लेकिन भीतरी वेश बदलते रहते हैं, चौथी बात यह कि फैसला 'फ्रांसीसी जनता' जैसी निराकार और अस्पष्ट-सी चीज़ के नाम पर लादा गया था। यहीं अगर मैं यह पूछूँ कि यह काम चीनी या 'जर्मन जनता' के नाम पर क्यों नहीं किया गया

तो ? इस प्रकार ये सारी बातें थीं जिन्होंने मेरी समझ से अदालत के निर्णय की गम्भीरता को धो डाला था। बहरहाल, इतना जरूर है कि फैसला दिये जाने के क्षण से ही उसके परिणाम और प्रतिक्रियाएँ इतनी ठोस, स्पष्ट और उग्र रूप से मेरे सामने आयीं कि मैं उन्हें पहचाने बिना न रहा और उन्हें साक्षात् इस रूप में देखने लगा जैसे इस दीवार को देखता हूँ जिससे पीठ टिकाये लेटा हूँ।

जब इस प्रकार के विचार दिमाग में आ रहे थे तो पिताजी की एक कहानी याद हो आयी। मैंने तो उन्हें कभी आँखों से देखा नहीं, माँ ही सुनाया करती थी। वैसे भी जो कुछ माँ के मुँह से जाना है, उनके बारे में उतना ही जानता हूँ। उसी सुने हुए में से है कि एक बार वे किसी हत्यारे को फाँसी लगता देखने गये। बाद में तो उनके विचार-मात्र से उन्हें उल्टी हो जाती थी, लेकिन वहाँ उन्होंने शुरू से आखिर तक देखा था और आते ही बुरी तरह बीमार पड़ गये थे। उन दिनों पिताजी की यह बात मुझे बड़ी बेहूदी लगती थी। लेकिन अब समझ में आया कि वह बात कैसी स्वाभाविक थी। कैसे उस समय यह बात मेरे भेजे में नहीं घुसती थी कि सरे-आम फाँसी लगने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात दुनिया में और क्या होगी ? और यह कि अगर एक दृष्टि से देखा जाये तो यही एक चीज़ है जिसमें आदमी को सच्ची दिलचस्पी हो सकती है। और तत्काल मैंने तय कर लिया कि अगर कभी जेल से छूटा तो जहाँ-जहाँ फाँसी लगेगी ज़रूर देखने जाऊँगा। लेकिन छूटने की इस सम्भावना पर सोचना ही सबसे बड़ी बेवकूफी थी। मैं कल्पना करने लगा मानो मैं स्वतन्त्र आदमी हूँ और पुलिस की दोहरी लाइन के पीछे यानी खतरे से बाहर सुरक्षित दिशा की ओर, खड़ा-खड़ा फाँसी के दृश्य को देख रहा हूँ···इस विचार-मात्र से मेरा मन बेतुके उल्लास और आह्लाद से उमड़ उठा कि मैं भी तमाशा देखने आये सैकड़ों दर्शकों में से एक हूँ और निडर भाव से घर जाकर उल्टियाँ कर सकता हूँ। लेकिन यों कल्पना के घोड़ों की रासें ढीली छोड़ने से क्या हाथ लगता था, शुद्ध शेखचिल्लीपना था। सो कुछ देर बाद ही मुझे जाड़ा चढ़ आया। कस-कर चारों तरफ कम्बल लपेट लिया। लेकिन दाँत इस तरह बजते रहे

कि रुकने का नाम ही न लेते थे।

फिर भी यह जग-ज़ाहिर बात है कि आदमी हमेशा अक्लमन्द नहीं बना रहता। जो-जो शेखचिल्लीपने की बातें मैं सोचा करता था, उनमें एक यह भी थी कि मैं नये-नये कानून बनाकर सारी सजाएँ बदल दूँगा। मेरे हिसाब से सबसे बड़ी ज़रूरत एक बात की थी और वह यह कि अपराधी को कम-से-कम एक अवसर तो ज़रूर ही दिया जाना चाहिए। वह अवसर चाहे कितना भी मरा-गिरा क्यों न हो, लेकिन हज़ारों में से एक अवसर तो बचने का उसे मिलना ही चाहिए। मान लीजिए, कोई दवा या दवाओं का मिश्रण है जो नौ सौ निन्यानवे बार 'मरीज़' की (मैं अपराधी को मरीज़ मानकर ही चलता) जान ले सकता है—और इस बात को 'मरीज़' भी अच्छी तरह जानता है कि दवा खाकर वह जीता नही बचेगा। अब इसमें भी कहीं-न-कहीं ज़रा-सी उम्मीद या बच निकलने के अवसर की सम्भावना तो है ही। लेकिन इस 'गिलोटिन-बाज़ी' के बारे मैंने बड़े निरुद्विग्न भाव से काफी सोच-विचार किया तो पाया कि इसमें तो मृत्यु-दण्ड पाये आदमी को कहीं रत्ती-भर भी कोई अवसर ही नज़र नहीं आता। यही इसकी सबसे बड़ी खराबी है। यहाँ तो सभी कुछ पहले से तय रहता है और यह मानकर ही चला जाता है कि चाहे चाँद-सूरज टल जायें लेकिन मरीज़ की मौत नहीं टल सकती। मान लो, किसी बार संयोग से गँड़ासा काम न करे तो जल्लाद दुबारा चलायेंगे। इस प्रकार नतीजा यह निकला कि प्रकृति के चाहे जितना खिलाफ पड़ता हो, लेकिन मरनेवाले को यह मानकर ही चलना चाहिए कि मशीन ठीक-ठाक काम कर रही है और उसमें कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है। मेरे खयाल से यह इस तरीके की खराबी है। यों देखने में मेरी बात खासी जोरदार भी है। लेकिन दूसरे पक्ष से देखें तो इससे इस तरीके की निर्दोष कुशलता ही प्रगट होती है। तो सब मिलाकर हम इसी नतीज़े पर पहुँचे कि फाँसी पाये आदमी को अपने मरने में मानसिक रूप से सहयोग देना ही चाहिए और उसका 'हित' इसी बात में है कि फाँसी की यह सारी क्रिया बिना किसी रोक-रुकावट के पूरी हो जाये।

दूसरी बात मुझे यह स्वीकार करनी पड़ी कि अभी तक इस बारे में

मेरी जानकारी बड़ी गलत-सलत बातों से भरी थी। कारण नहीं जानता, लेकिन मैं तो हमेशा यही सोचा करता था कि पहले सीढ़ियों से मचान पर चढ़ जाते हैं, फिर वहाँ 'गिलोटिन' से गला काट दिया जाता है। १७८९ की राज्य-क्रान्ति के बारे में स्कूल में जो कुछ जाना और जो चित्र देखे थे, शायद उसी आधार पर यह खयाल मन में जम गया था। फिर एक दिन सुबह-सुबह मुझे एक तस्वीर का ध्यान हो आया। एक अखबार ने किसी प्रसिद्ध अपराधी के फाँसी लगने के अवसर पर सचित्र लेखमाला दी थी, उसी में यह तस्वीर भी छपी थी। यहाँ तो गँड़ासे की मशीन जमीन पर ही खड़ी थी और जितनी चौड़ी मैंने सोच रखी थी उससे काफी कम चौड़ी थी। मुझे तो मशीन में भी ऐसी कोई खास बात नहीं लगी थी। यह देखकर भी मुझे बड़ा अजब-अजब लगा कि अभी तक इस मशीन का मुझे खयाल क्यों नहीं आया। उस तस्वीर में जिस चीज़ ने सबसे ज़्यादा मेरा ध्यान खींचा था वह थी गँड़ासे की मशीन की साफ-सुथरी शक्ल। उसका चमचमाना और बनावट की सफाई देखकर किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला के यन्त्र की याद आती थी। आदमी जिसके बारे में कुछ नहीं जानता उसे खूब बढ़ा-चढ़ाकर सोचता है। लेकिन इस समय मुझे मानना पड़ा कि गिलोटिन से गरदन काटना तो बड़ा ही आसान और सीधा है। जिस धरातल पर आदमी खड़ा होता है उसी पर मशीन होती है और वह मशीन की तरफ इस तरह कदम-कदम बढ़ता है मानो अपने किसी जान-पहचानवाले से मिलने जा रहा हो। लेकिन एक तरह से यह भी गुनाह बेलज़्ज़त ही है। मचान पर चढ़ना, अर्थात् दुनिया को नीचे छोड़कर ऊपर उठना—कल्पना को कुछ तो सहारा देता है। और यहाँ? यहाँ तो ले-देकर मशीन ही सब पर छायी रहती है। हल्की-सी शरम लेकिन बेहद कुशलता के साथ अपराधी को पकड़ा और निहायत होशियारी के साथ उसकी गरदन उड़ा दी।

उषाकाल का समय और मेरी अपील, ये दो बातें और थीं जिनका खयाल हमेशा दिमाग पर बना रहता था। यों कोशिश मैं भरसक करता था कि अपने मन को इन विचारों से हटाये रखूँ। चित्त लेट जाता और मन को खींच-खींचकर आकाश का अध्ययन करने में उलझाये रखता।

रोशनी हरी पड़ने लगती तो जान लेता कि अब रात होगी। विचारों के प्रवाह को भुलाये रखने के लिए दूसरा काम मैं अपने दिल की धड़कन सुनने का करता। सोच ही नहीं पाता था कि इतने दिनों रात-दिन मेरी छाती से लगी रहनेवाली ये नन्ही-मुन्नी धड़कनें कभी एक दिन सहसा बन्द भी हो जायेंगी। कल्पना कभी मेरे स्वभाव का प्रमुख गुण नहीं रही, फिर भी मैं देख लेने की कोशिश करता कि एक दिन जब मेरे दिल की ये धड़कनें मस्तिष्क में ध्वनित-प्रतिध्वनित होनी बन्द हो जायेंगी तब मुझे कैसा लग रहा होगा। लेकिन दिमाग काम ही नहीं करता था। वहाँ तो उषाकाल और अपनी अपील छायी रहती और तब यह मानकर मैं हथियार डाल देता कि विचार-प्रवाह को प्राकृतिक मार्गों से ज़बरदस्ती हटाने को कोशिश करना सरासर बेवकूफी है।

इतना मुझे पता था कि बुलावा हमेशा सुवह तड़के ही आता है, इसलिए सारी रात सचमुच पौ फटने की राह में जागते ही बीतती। मुझे यह कतई अच्छा नहीं लगता कि अचानक कोई बात हो और मैं ठगा-सा रह जाऊँ। चाहता हूँ, मेरे साथ कुछ भी क्यों न गुज़रे, मैं हमेशा कमर कसकर तैयार रहूँ। इसीलिए दिन में जब-तब झपकी लेने और रात-रातभर जागकर काले आसमानी गुम्बद में पौ फटने के पहले आसार खोजने की आदत डाल ली थी। सबसे अधिक कष्टप्रद समय मेरे लिए रात का वह धुँधला, अनिश्चित पहर होता था, जब कहा जाता है, बुलाने के लिए आते हैं। एक बार तो मैं आधी रात से ही कान खड़े करके आहट लेता रहा। मेरे कानों ने इतनी तरह की आवाज़ें, इतनी हल्की-हल्की आहटें शायद इससे पहले कभी नहीं सुनीं, जितनी अब सुनायी देने लगी थीं। लेकिन इतना कहूँगा कि इस मामले में गनीमत यही रही कि इस बीच मैंने कभी किसी के कदमों की आहट नहीं सुनी। माँ कहा करती थीं कि आदमी कैसी भी बड़ी-से-बड़ी मुसीबत में क्यों न हो, उसका मन सहारे के लिए सुख की कोई-न-कोई किरण ज़रूर खोज निकालता है। रोज सुबह तड़के ही जब आकाश रोशनी से जगमगाने लगता और मेरे कमरे में प्रकाश का ज्वार उमड़ पड़ता, उस क्षण मुझे उनकी बात सही लगने लगती, क्योंकि उस समय किसी के भी कदमों

की आहट सुनायी पड़ सकती थी और हर पल मुझे लगता कि अब मेरा दिल टुकड़े-टुकड़े हुआ। पत्ता भी खड़कता तो मैं दौड़कर दरवाजे के ठण्डे-ठण्डे खुरदरे काठ से कान लगाकर सुनने लगता कि कोई आ रहा है क्या ? और इस आहट को ऐसे ध्यान से सुनता कि कुत्ते-जैसी जल्दी-जल्दी हाँफती, खुर्र-खुर्र करती अपनी ही साँस सुनायी देने लगती। लेकिन जैसे-तैसे आखिर यह समय भी बीतता, मेरी छाती फटने-फटने को होकर भी रह जाती और मुझे साँस लेने के लिए फिर चौबीस घण्टे का मध्यान्तर मिल जाता।

अब शेष सारे दिन दिमाग में अपील की बात चला करती। जो कुछ हाथ में था उसके देखते हुए उसी के भीतर से ज़्यादा-से-ज़्यादा आशा-दिलासा सूँत लेने की दृष्टि से मैंने एक तरकीब और सोच निकाली। मैं पहले बुरे-से-बुरे परिणाम को सोच लेता फिर आगे बढ़ता, जैसे—मान लो मेरी अपील खारिज हो गयी है, यानी अब तो मरने के सिवा कोई चारा ही नहीं, अर्थात् औरों से पहले बिस्तर समेटना होगा। यहीं मैं मन-ही-मन अपने को चेतावनी देता, 'मगर इसे तो बच्चा-बच्चा जानता है कि ज़िन्दगी जीने के काबिल है ही नहीं।' और तब मैं ज़रा ऊपर उठकर देखता तो लगता कि आदमी तीस की उम्र पर मरे, या सत्तर वर्ष की उम्र पार करके—इससे क्या फर्क पड़ता है ? दूसरे स्त्री-पुरुष तो बने ही रहेंगे, दुनिया जैसी चलती है, चलती चली जायेगी। दूसरे, मरूँ आज या आज से चार साल बाद—मरना तो एक दिन है ही। लेकिन जाने क्यों इस प्रकार के चिन्तन से जैसी शान्ति मिलनी चाहिए थी उतनी नहीं मिलती थी। ज़िन्दगी के जितने वर्ष जी और भोगकर काटे हैं उनका खयाल ही दिल में हूक पैदा कर देता था। खैर, इस पर तो मैं मन को तर्क-वितर्क करके समझा लेता—सोचता, मान लो, एक दिन मेरी उम्र पूरी हो गयी और मौत ने मुझे चारों ओर से घेर लिया तब क्या होगा ? अच्छा, जब यही तय है कि मौत से कोई छुटकारा नहीं है तो फिर मृत्यु का रूप चाहे कोई भी हो—परिणाम तो वही है, अस्तु मुझे अपनी अपील खारिज होने को हर तरह से तैयार रहना चाहिए। लेकिन इस अस्तु तक आने की तर्क-प्रणाली को बीच ही में बिखरने न देना

कोई आसान काम नहीं था।

इस प्रकार जब इन सारी स्थितियों के लिए मन को तैयार करता हुआ मैं इस जगह आ पहुँचता तब कहीं जाकर अपना यह 'अधिकार' मानता, यानी मन को इतनी छूट देता कि अब दूसरी बात पर विचार कर डाला जाय कि अच्छा मान लो मेरी अपील मान ली गयी। उस समय तन-मन में जो आनन्द और उल्लास का फव्वारा फट पड़ेगा, आँखों से आँसू बहने लगेंगे—उस सबको सँभाल पाना भी तो एक मुसीबत होगी। लेकिन चाहे जो हो, पसलियों को तोड़कर बाहर आते दिल पर संयम रखने और अधीर मन को सँभालने का काम करना तो पड़ेगा ही। क्योंकि अपील मान लो स्वीकृत भी हो जाये—फिर भी इस प्रकार की सम्भावना तक आने के लिए विचारों को कोई क्रमबद्ध शृंखला तो देनी ही चाहिए—वरना अपील खारिज हो जानेवाली पहली तर्क-प्रणाली के सामने इस आशा का आधार बड़ा लचर लगेगा। इस प्रकार जब इस तरह मन को समझा लेता तब कहीं जाकर मन को शान्ति मिलती। शान्ति मिलती तो सही—यही गनीमत थी।

एक बार फिर जब मैंने पादरी से मिलने से इन्कार किया था—वह इसी सब उधेड़-बुन का समय था। मैं लेटा-लेटा देख रहा था कि सारे आसमान में नरम-नरम सुनहरी उजास के पाँवड़े फैलाकर गरमियों की शीतल साँझ उतरती चली आ रही है। अभी-अभी मेरी अपील खारिज हो चुकी थी और मुझे ऐसा लग रहा था मान लो मेरी नसों में दौड़ते खून की गति बड़ी मन्द और धीमी हो गयी है। नहीं, मुझे किसी पादरी-वादरी से नहीं मिलना।...न जाने कितने दिन हो गये, मैंने कभी 'मेरी' के बारे में कुछ भी नहीं सोचा, सो अब जाने कैसे मेरी की बातें सोचनी शुरू कर दीं। युग बीत गये, उसका कोई पत्र नहीं आया। कौन जाने मृत्यु-दण्ड पाये व्यक्ति की प्रेमिका बने रहना उसके लिए भी असह्य हो गया हो... या हो सकता है बीमार ही पड़ गयी हो...या मर-मरा गयी हो। दुनिया में आखिर इस तरह की बातें हो भी जाती हैं। लेकिन मुझे मालूम हो तो कैसे हो? हम दोनों के शरीरों को छोड़कर बीच में कोई ऐसा सूत्र भी तो नहीं है जो दोनों को एक-दूसरे की याद तो दिलाता रहे—सो

दोनों शरीर अब अलग-अलग हो गये हैं। अब मान लो, वह मर ही गयी हो तो उसकी याद को ओढ़ूँ या बिछाऊँ? मरी लड़की में मुझे क्या दिलचस्पी होगी? अपना इस तरह सोचना मुझे बहुत अस्वाभाविक भी नहीं लगता। आखिर मैं अपने बारे में भी तो सोचता ही था कि मरते ही लोग मुझे भूल-भाल जायेंगे। मैं तो यह भी नहीं कहता कि इस बात को गले उतार पाना मुश्किल हो जायेगा। दुनिया में ऐसी कौन-सी चीज़ है जिसका आदमी कभी-न-कभी अभ्यस्त नहीं हो जाता?

यहीं तक सोच पाया था कि सहसा पादरी ने बिना कोई सूचना-आहट किये भीतर प्रवेश किया। देखकर मैं चौंक पड़ा। मुझे यों चौंक उठते देखकर ही वह एकदम बोला, "घबराओ मत, मैं आया हूँ।" मैंने बताया कि उसके आने का समय प्रायः दूसरा होता है और वह मौका काफी खतरनाक माना जाता है। पादरी इस पर बोला कि वह तो यों ही दोस्ताना तौर पर चला आया है, उसके आने और अपील खारिज होने की बात में कोई सम्बन्ध नहीं है, और वह तो मेरी अपील के बारे में कुछ जानता भी नहीं। इतना बताकर वह मेरे सोने के तख्त पर ही बैठ गया और मुझे भी अपने पास ही बैठ जाने को कहा। मुझे आदमी शक्ल से काफी नम्र और खुशमिजाज़ लगा और मन में उसके खिलाफ़ कुछ भी न था, फिर भी मैंने मना कर दिया।

पहले तो वह घुटनों पर बाँहें रखे, हाथों को एकटक निहारता बुत की तरह बैठ रहा। हाथ बड़े पतले-पतले और सुते हुए, लेकिन काफी मज़बूत थे। उन्हें देखकर मुझे दो छोटे-छोटे फुरतीले जानवरों का खयाल हो आया। फिर वह आपस में दोनों हथेलियाँ रगड़ने लगा। मगर जैसा-का-तैसा बैठा रहा, यहाँ तक कि कुछ देर के लिए मैं भूल ही गया कि वह वहीं बैठा है।

हठात् झटके से सिर उठाकर उसने मेरी आँखों में आँखें डालकर देखा। पूछा, "मुझे मिलने क्यों नहीं आने देना चाहते थे?"

मैंने बता दिया कि मैं ईश्वर को नहीं मानता।

"सचमुच, तुम्हें पक्का विश्वास है?"

मैं बोला, "इस पर सिर खपाने में मुझे कोई सार नज़र नहीं आता।"

इसलिए ईश्वर को मानूँ या न मानूँ, यह सवाल मेरे लिए बेकार है।"

इसके बाद दोनों हाथ जाँघों पर ही रखे हुए उसने पीछे दीवार का सहारा ले लिया। फिर इस तरह बोला मानो मुझसे न कहकर किसी और से कह रहा हो—एक बात उसने अक्सर ही देखी है। असलियत में जब आदमी का किसी बात पर विश्वास नहीं भी होता तब भी उसे ऐसा लगता है जैसे उस बात पर उसका पक्का विश्वास है। उसकी इस बात पर मैं जब कुछ नहीं बोला तो उसने फिर मेरी ओर देखकर पूछा, "तुम ऐसा नहीं मानते ?"

मैंने कहा कि हो सकता है ऐसा होता हो, लेकिन मैं तो अपनी बात जानता हूँ। हो सकता है मैं इस बात को न जानता होऊँ कि मेरी दिलचस्पी किस चीज़ में है, लेकिन यह मैं जरूर जानता हूँ कि किस चीज़ में मेरी कतई दिलचस्पी नहीं है।

उसने निगाहें दूसरी ओर फेर लीं, लेकिन बिना आसन बदले पूछा कि क्या मेरे ऐसा कहने के पीछे बेहद निराशा और हताश महसूस करने की भावना ही नहीं है ? मैंने उसे समझाया कि हताश और निराश तो मैं कतई महसूस नहीं करता, हाँ डर जरूर लगता है, सो यह बहुत स्वाभाविक है।

"तब तो उस हालत में," दृढ़ स्वर में उसने कहा, "केवल ईश्वर ही तुम्हें बल दे सकता है। तुम्हारी अवस्थावाले जितने लोग मैंने देखे हैं, वे सब दुख के समय ईश्वर की ही शरण में आये।"

मैंने जवाब दिया, "उन्हें मनचाहा करने की छूट है। बहरहाल, मुझे किसी से बल-वल नहीं लेना। और जिस चीज़ में मेरी दिलचस्पी ही नहीं है, उसमें दिलचस्पी पैदा करने की मुझे फुरसत नहीं।"

झल्लाकर उसने दोनों हाथ झटके और सीधा बैठकर अपने लबादे की सलवटें ठीक करने लगा। जब ठीक कर चुका तो मुझे 'दोस्त-दोस्त' कहकर फिर बोलना शुरू कर दिया। बताने लगा कि कहीं मैं यह न समझने लगूँ कि मुझे मृत्यु-दण्ड मिला है, इसलिए वह इस तरह की बातें कर रहा है। नहीं, बल्कि उसका तो यह विश्वास है कि धरती पर रहने वाले हर व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड मिला हुआ है।

यहाँ मैंने उसे टोक दिया, एक तो मेरी और 'हर व्यक्ति' की बात एक ही नहीं है; दूसरे, हर व्यक्ति को अगर मृत्यु-दण्ड मिला है तो उससे मुझे क्या सन्तोष ?

उसने सिर हिलाकर मेरी बात मानी और कहा, "अच्छा, हो सकता है, तुम्हें इससे कोई सन्तोष न हो, लेकिन मान लो तुम आज न मरे तो किसी-न-किसी दिन तो मरोगे ही । यह सवाल तब भी उठेगा । उस समय तुम उस भीषण क्षण का सामना कैसे करोगे ?"

मैं बोला कि जैसे इस समय कर रहा हूँ, ठीक वैसे ही उस समय भी करूँगा ।

इस पर वह उठकर खड़ा हो गया और मेरी आँखों में आँखें डालकर देखने लगा । इस चालाकी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ । मैं खुद सेलेस्ते और इमानुएल पर इसका प्रयोग करके इसका मज़ा लिया करता था । दस में से नौ बार वे लोग अकुलाकर निगाहें घुमा लेते थे । मैं भाँप गया कि पादरी इस खोज में माहिर है, उसकी निगाह में कहीं चूक नहीं है। उसने दृढ़ और निष्कम्प स्वर में पूछा, "तुम्हें कहीं आशा की किरण नहीं दीखती ? सचमुच तुम्हारा यही विचार है कि मरने के बाद आदमी एकदम मर जाता है—बाद में कुछ नहीं रहता ?"

मैं बोला, "हाँ ।"

उसने आँखें झुका लीं और फिर से बैठ गया । कहने लगा, "सचमुच, मुझे तुम पर बड़ा तरस आता है । जैसे तुम सोचते हो, उस तरह सोचकर तो आदमी का जीना मुहाल है ।"

अब मैं पादरी की बातों से उकताने लगा । छोटे-से झरोखे के नीचे कन्धा टिकाये मैं दूसरी तरफ देखता रहा । सुना ही नहीं कि वह क्या-क्या कहे जा रहा है । तभी लगा कि वह मुझसे फिर कुछ पूछ रहा है । इस बार उसका स्वर बड़ा उद्विग्न और आकुल था । लगा, वह सचमुच दुखी हो आया है । मैं और ज़्यादा ध्यानपूर्वक उसकी बातें सुनने लगा ।

कह रहा था कि उसे पक्का विश्वास है कि मेरी अपील मान ली जायेगी, लेकिन अपराध का जो बोझ मेरी छाती पर लाद दिया गया है उससे तो मुक्त होना ही होगा । उसके विचार से आदमी का न्याय कोई

न्याय नहीं है, असली न्याय तो ईश्वर ही करता है। उसी का महत्त्व है। मैंने बताया कि मृत्यु-दण्ड तो मुझे आदमी ने ही दिया है। "हाँ, मैंने माना, तुम ठीक कहते हो। लेकिन क्या इसी से तुम्हारे पाप का निराकरण हो जायेगा ?" तब मैंने बताया कि मुझे तो किसी 'पाप' का पता नहीं है, हाँ मैं तो इतना जानता हूँ कि मुझे फौजदारी के मामले में मुजरिम करार दिया गया है। सो सज़ा भी उस अपराध की भुगत रहा हूँ। बस, इससे ज़्यादा उम्मीद करने का किसी को कोई हक नहीं है।

तब वह एकदम उठ खड़ा हुआ। अब मैंने देखा कि इस कुठरिया में हिलने-डुलने लायक इतनी ही जगह थी कि आदमी बस या तो बैठ जाये या खड़ा रहे। वह मेरी ओर ज़रा-सा बढ़ा और इस तरह रुक गया जैसे पास आने की हिम्मत न कर पा रहा हो। मैं नीचे फर्श पर निगाहें टिकाये था। वह छड़ों के पार आसमान की ओर देखने लगा।

फिर बड़े ही गम्भीर स्वर में बोला, "नहीं बेटा, यह तुम्हारी भूल है। तुमसे एक उम्मीद और भी की जा सकती है। और शायद, ज़रूर ही की जाये।"

"क्या मतलब ?"

"तुमसे किसी के दर्शन करने की उम्मीद की जा सकती है···।"

"किसके दर्शन करने की उम्मीद ?"

इस पर पादरी ने धीरे-धीरे मेरी कोठरी में चारों ओर निगाहें घुमायीं। इस बार जब वह बोला तो उसके स्वर में ध्वनित व्यवस्था से मैं चौंक उठा। वह कह रहा था—

'ये पत्थरों की दीवारें···मैं इनके कण-कण से परिचित हूँ। ये पत्थरों की दीवारें···आदमी की यातना और वेदना से चिनी गयी हैं। जब-जब इन्हें देखता हूँ, मेरा तन-मन अपने-आप सिहरकर रोमांचित हो आता है, झनझना उठता है। लेकिन विश्वास करना, मैं तुमसे अपनी अन्तरात्मा की बात कह रहा हूँ। यह भी मुझसे नहीं छिपा कि इन्हीं दीवारों की मटमैली सतह पर तुम-जैसे अनेक दुखियारे और पातकी प्राणियों ने ही अक्सर उस अलौकिक मुख-मण्डल को उभरते और रूप ग्रहण करते हुए देखा है। मैं उसी मुख-मण्डल की बात कह रहा हूँ···

तुम उसी के दर्शन करोगे...।"

पहले तो उसकी इस वात से मेरा आसन डोल उठा। पर फिर मैंने उसे वताया कि मैं महीनों से इन दीवारों को घूर रहा हूँ और जैसी अच्छी तरह इन दीवारों से परिचित हो गया हूँ, उतना शायद दुनिया में किसी से, किसी भी चीज़ से परिचित नहीं हूँ। हाँ, एक चेहरे को शायद कभी ज़रूर इन दीवारों पर खोजने की कोशिश किया करता था, लेकिन वह चेहरा तो कामनाओं से उद्भासित धूप-सा सुनहला—मेरी का चेहरा था। किस्मत में नहीं था सो नहीं देख पाया। अब कोशिश भी छोड़ दी। वाकई, इन दीवारों पर मैंने कभी किसी चीज़ को 'उभरते' या वकौल उसके, 'रूप ग्रहण करते' नहीं देखा।

पादरी वड़े कातर भाव से मुझे एकटक देखता रहा। मेरी पीठ दीवार से टिकी थी और रोशनी माथे पर पड़ रही थी। वह मुँह-ही-मुँह में जाने क्या-क्या वड़वड़ा रहा था। फिर अचानक उसने पूछ लिया, "तुम्हें चूम लूँ न ?" मैंने जवाव दिया, "जी नहीं···" सुनकर वह घूमा और दीवार के पास आ गया। फिर दीवार पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए पूछने लगा, "सचमुच, इन भौतिक पदार्थों से तुम्हें इतना ज्यादा मोह है ?"

मैंने कोई जवाव नहीं दिया।

वह काफी देर मेरी निगाहें वचाता रहा। उसका वहाँ होना अव मुझे वहुत कष्टकर और असह्य होता जा रहा था और मैं उससे कहने जा ही रहा था कि 'आप अव तशरीफ ले जाइए। मुझे वख्शिए,' कि सहसा एक झटका लेकर मेरी ओर घूम पड़ा और तीव्र आवेश के विस्फोट के साथ वोला, "नहीं···नहीं···मुझे विश्वास नहीं आता। मैं खूब जानता हूँ कि प्रायः तुम्हारे मन में पूनर्जन्म की कामना हुई है।"

"ज़रूर कामना हुई है।" मैंने कहा, कभी-कभी हर आदमी के मन में ऐसी कामना जागती है। लेकिन इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। जैसे आदमी धनवान होने की कामना करता है, सपाटे से तैरने की कामना करता है या और भी सुडौल चेहरे की कामना करता है—ठीक उसी तरह की कामना यह भी है।" मैं इसी धारा में कुछ और वोलूँ कि उसने

वीच में ही सवाल किया कि मरने के वाद मैं किस तरह के जीवन की कामना करता हूँ ?

मैं एक तरह दहाड़कर ही बोला, "ऐसे जीवन की, जहाँ इस धरती के जीवन की याद वनी रहे। बस, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।" और इस वात के साथ-साथ एक ही साँस में मैंने यह भी कह डाला, "वस, अब आपके सत्संग से मेर पेट भर गया।"

लेकिन लगा कि उसे तो 'ईश्वर' के विषय को लेकर कुछ और भी प्रवचन करना था। मैं एकदम उसके पास जा पहुँचा और आखिरी बार समझाने की कोशिश करने लगा कि मेरे पास अब समय नहीं रह गया है और जो थोड़ा-वहुत समय है भी, उसे मैं ईश्वर-वीश्वर पर वरवाद नहीं करना चाहता।

अब उसने वात बदलने की कोशिश की। पूछा कि यह देखकर भी कि वह पादरी है मैंने उसे 'फादर' कहकर सम्वोधित क्यों नहीं किया ? इस पर तो मैं और भी झल्ला उठा। कहा, "तुम मेरे 'फादर' कहाँ से हो गये ? उल्टे तुम तो दुश्मनों के साथ मिले हुए हो।"

वह मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "नहीं-नहीं वेटा, मैं तो तुम्हारी ही ओर हूँ। तुम समझो ही नहीं तो मैं क्या करूँ ? तुम्हारा दिल पथरा गया है। खैर, मैं तुम्हारी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करूँगा।"

और उसका इतना कहना था कि एकाएक ही जाने क्या हुआ कि मुझे लगा, मेरे भीतर भयानक विस्फोट हो उठा है। मैंने चिल्ला-चिल्लाकर वकना शुरू कर दिया। उस पर अन्धाधुन्ध गालियों की बौछार कर दी और कह दिया कि उसे मेरे लिए कोई प्रार्थना-व्रार्थना करने की कतई जरूरत नहीं है। "जितनी जल्दी वन पड़े यहाँ से दफा हो जाओ।" लपककर मैंने उसके लवादे का गरेवान पकड़ा और जाने कैसे उन्मत्त आह्लाद और अन्धे क्रोध के अतिरेक में मन में घुमड़ती कहनी-अनकहनी सारी बातें उसे कह डालीं, कि उसे अगर ऐसा ही अटल अडिग विश्वास है तो अपने घर रखे रहे, उसकी सारी मान्यताओं का मूल्य मेरे लिए कानी कौड़ी से अधिक नहीं है। कहने को यह भले ही अपने को ज़िन्दा समझता रहे, लेकिन असल में मरे से भी गया-वीता है। उसे खुद अपने जीने पर

विश्वास नहीं है। देखने में मेरे साथ कुछ भी न लगा हो, यह ग्रौर बात है। लेकिन मैं ग्रपने बारे में ग्रच्छी तरह जानता हूँ कि मैं ज़िन्दा हूँ, उससे कम-से-कम ग्रधिक विश्वासपूर्वक जानता हूँ, ग्रपनी वर्तमान ज़िन्दगी ग्रौर ग्रानेवाली मौत का पता मुझे उससे लाख गुना ज्यादा ग्रच्छी तरह है। वह क्या जाने ? बेशक, मेरी पूँजी इतनी-सी ही है, मगर मेरे निकट यह सचाई कम-से-कम इतनी स्पष्ट ग्रौर ठोस तो है कि मैं इसे छू सकता हूँ, देख सकता हूँ ग्रौर इसमें उसी तरह दाँत गड़ा सकता हूँ, जैसे यह सचाई मेरी चेतना में दाँत गड़ाये है। मैंने कभी गलती नहीं की, ग्राज भी सही हूँ ग्रौर हमेशा सही रहूँगा। मैंने एक खास ढर्रे की ज़िन्दगी बितायी है, चाहता तो दूसरी तरह भी बिता सकता था। मेरा हाथ पकड़ा किसने था ? जहाँ जो ठीक समझा वही किया है, उसके ग्रलावा कुछ नहीं किया, यानी ग्रब इसका मतलब भी साफ करूँ ? मतलब यह हुग्रा कि इस सारे समय मैं एक-एक दिन ग्राज के इस क्षण की राह देखता रहा हूँ। वह कल हो या ग्रौर किसी दिन, लेकिन मैंने हर तड़के उस क्षण की राह देखी है जो मेरी सारी ज़िन्दगी की सार्थकता, मेरे जीवन के रवैये की सचाई सिद्ध कर देगा। किसी ग्रौर चीज़ का, किसी ग्रौर बात का मेरे निकट कभी तिनका-भर मूल्य नहीं रहा, ग्रौर क्यों नहीं रहा, इसे मैं ग्रच्छी तरह जानता हूँ। पादरी खुद भी ग्रच्छी तरह जानता है। भविष्य के ग्रँधियारे क्षितिज से एक ग्रजीब मन्द-मन्द हठीला पवन निरन्तर, बिना रुके मेरी दिशा में बहता रहा है—बहता रहा है, ग्रानेवाले वर्षों के झुर-मुटों से छन-छनकर मेरे सारे जीवन के विस्तार पर जाने कितने-कितने खोटे ग्रादर्शों के सिक्के लोगों ने मुझे पकड़ाये, मैंने खुद भी तो उन दिनों वैसी ही नकली ग्रौर झूठी ज़िन्दगी बितायी है, लेकिन सामने की ग्रोर से ग्रानेवाले पवन के इस प्रवाह ने झूठे ग्रादर्शों ग्रौर नकली ज़िन्दगी का सारा कूड़ा-कचरा साफ कर डाला है। दूसरों की मौत, माँ का प्यार या पादरी के ईश्वर की कृपा की मेरे लिए क्या गिनती ? कोई कैसी भी ज़िन्दगी चुने, मुझे क्या ? एक सिर्फ, एक-जैसा बँधा-बँधाया प्रारब्ध है जो ग्रकेले मुझे ही नहीं, पादरी की तरह मेरे भाई बननेवाले लाखों-लाख 'किस्मतवर' लोगों को 'छाँट' लेता है ग्रौर इस प्रकार 'छँटने' को

मजबूर होते हैं। लेकिन विडम्बना देखो, हम समझते हैं अपने प्रारब्ध का चुनाव हम खुद कर रहे हैं, ज़िन्दगी जीने का निश्चय हम कर रहे हैं ये सारी बातें मेरे लिए बकवास हैं। हाँ-हाँ, वह खुद ही देख ले न ! हर जीता-जागता आदमी इसी अर्थ में तो किस्मतवर है। धरती पर केवल एक वर्ग के लोग रहते हैं, 'किस्मतवर' वर्ग के लोग···और एक दिन सबको एक सिरे से पकड़कर फाँसी पर लटका दिया जायेगा···घबराने की बात नहीं है, एक दिन उसका भी नम्बर आयेगा। अच्छा, जब सभी का यही हश्र होना है तो इससे उसे क्या कि उस पर मुकदमा हत्या का चले और फाँसी इसलिए हो जाये कि यह माँ की अन्त्येष्टि पर रोया क्यों नहीं ? सलामानो की बीवी, और सलामानो के कुत्ते का भी यही होगा। इस दृष्टि से देखो तो वह 'चाभी-भरी कठपुतली' औरत भी उतनी ही 'अपराधी' है जितनी मैसन की पैरिसवाली पत्नी, जितनी मुझे पतिरूप में चाहने वाली मेरी 'अपराधी' है।···सेलेस्ते रेमण्ड से लाख गुना अच्छा आदमी है तो रहा आये, मेरे लिए तो दोनों ही जिगरी दोस्त हैं। मेरी अगर इस समय किसी नये लड़के के गले में बाँहें डाले उसे चूम रही हो, तो भी मुझे क्या ? बकौल उस पादरी के, उसे खुद भी तो मृत्यु-दण्ड मिला हुआ है। लेकिन उसकी समझ में क्यों नहीं आता कि मेरे अनागत की घाटी से आनेवाली यह अन्धी आँधी क्या है, कैसी है ?···

मैं इतने ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था कि मेरी साँस उखड़ गयी थी। तभी वार्डर लोग दौड़ आये और पादरी को मेरे चंगुल से छुड़ाने की कोशिश करने लगे। एक ने मुझे मारने को हाथ उठाया ही था कि पादरी ने सबको शान्त कर दिया और खुद बिना कुछ बोले एकटक मुझे देखता रहा। देखा, उसकी आँखों में आँसू भर आये हैं। तब फिर वह पलटकर कोठरी से बाहर निकल गया।

वह चला गया तो मेरा मन फिर से शान्त हो गया। मगर इस सारी उत्तेजना ने मुझे इतना थका डाला था कि मैं धम्म से अपने सोनेवाले तख्त पर आ गिरा। शायद काफी देर पड़ा-पड़ा सोता रहा। सोया भी काफी देर ही, क्योंकि जब उठा तो ठीक सामने तारे चमक रहे थे। खेत-खलिहानों से आता धीमा-धीमा स्वर, रात की ठण्डी-ठण्डी, खारी और सोंधी

हवा मेरी कनपटियाँ सहला रही थी। गरमी की उनींदी रात की स्तब्ध शान्ति सागर के ज्वार की तरह मेरे रोम-रोम में तैरती चली गयी। अभी ठीक से पौ भी नहीं फटी थी कि बाहर से जहाज का भोंपू सुनायी दिया। लोग-बाग उस दुनिया की यात्रा पर निकल पड़े थे जिससे अब मेरा कभी कोई सरोकार नहीं रहनेवाला था। जाने कितने महीने बाद आज मुझे शायद पहली बार माँ का ध्यान आने लगा। लगा, जैसे मैं आज समझा हूँ, क्यों उन्होंने जीवन की अन्तिम वेला में नया 'साथी' चुना, क्यों फिर से ज़िन्दगी का नया राग छेड़ा···वह भी उस आश्रम में जहाँ ज़िन्दगियों की लौ बुझने को होती है।···जहाँ गो-धूलि की उदासी, अवसाद-भरी शान्ति बनकर आती है। मृत्यु के इतने पास आकर माँ ने भी ठीक उसी तरह सोचा होगा, जैसे मुक्ति के खुले द्वार पर खड़ा व्यक्ति ज़िन्दगी को नये सिरे से शुरू करने की बात सोचता है। नहीं, उनके लिए रोने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। और उस क्षण मुझे भी लगा कि क्यों न मैं भी अपनी ज़िन्दगी को नये सिरे से शुरू कर डालूँ? लगा, क्रोध और आवेश के उस अन्धड़ ने मेरे मन के सारे कलुष-कल्मष को धोकर स्वच्छ, निर्मल कर दिया है, सारी कामनाओं और आशाओं को मेरे मन से झाड़ फेंका है। उस समय, ग्रह-नक्षत्रों से जगमगाते अँधियारे आसमान को अपलक देखते हुए पहली बार हाँ, पहली बार मन में संसार के प्रति सच्चा वैराग्य जागा। उस वैराग्य को आत्मसात् करके, उसे अपनी आत्मा का अंश अनुभव करते हुए लगा, जैसे मुझे कभी कोई दुख नहीं रहा और आज, इस समय भी मैं परम प्रसन्न हूँ।

अब इस नयी यात्रा पर बहुत अकेला-अकेला महसूस न हो, इतनी दृढ़ता प्राप्त कर लेने के लिए बस, मेरी यही कामना थी कि जिस समय मुझे फाँसी लगे उस दिन दर्शकों की अपार भीड़ मेरे चारों ओर इकट्ठी हो और ज़ोर-शोर के हल्ले-गुल्ले के साथ वे मेरी विदाई मना रहे हों···

●●